श्रीअरविन्द कर्मधारा

मार्च - अप्रैल 2024

श्रीअरविन्द आश्रम
दिल्ली शाखा का मुखपत्र
(मार्च - अप्रैल 2024)
अंक - 2
संस्थापक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फकीर'
सम्पादन - अपर्णा रॉय
विशेष परामर्श समिति
सुश्री तारा जौहर, विजया भारती
ऑनलाइन पब्लिकेशन
ऑफ
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा
(निःशुल्क उपलब्ध)
कृपया सब्सक्राइब करें-
saakarmdhara@rediffmail.com
कार्यालय
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली-शाखा
श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016
दूरभाषः 26567863, 26524810
आश्रम वैबसाइट
(www.sriaurobindoashram.net)

प्रार्थना और ध्यान

4 अप्रैल, 1914.

हे भगवान् ! मेरी आराधना तीव्र वेगसे तेरी ओर ऊपर उठ रही है, मेरी समूची सत्ता एक मूर्तिमान अभीप्सा बन गयी है, एक ऐसी दीपशिखा बन गयी है

जो तुझे निवेदित हो चुकी है।

नाथ, हे नाथ, हे मेरे परमप्रिय स्वामी!

बस तू ही मेरे अंदर जीवन धारण कर रहा है और संकल्प कर रहा है !

यह शरीर तेरा यंत्र है। यह संकल्प-शक्ति तेरी सेविका है। यह बुद्धि तेरा ही उपकरण है; और यह सब स्वयं तेरे सिवा और कुछ नहीं है।

विषय-सूची

- सम्पादकीय 5
- श्रीमाँ के जीवन, परंपरा और योगदान पर प्रकाश 8
- नीम का पेड़ 10
- श्रीअरविन्द की एक प्रार्थना 13
- 29 मार्च 1914 14
- देवमाता 20
- एकमेव आत्मन 21
- भारतीय संस्कृति के एक बुद्धिवादी आलोचक 22
- सावित्री (पर्व 1 सर्ग 3) 27
- अनागत के पथ पर 31
- 24 अप्रैल: एक दिव्य दिवस 37
- आश्रम गतिविधियाँ 41

सम्पादकीय

प्रिय पाठकों,

मार्च-अप्रैल मास के लिए श्रीअरविन्द कर्मधारा के अंक की प्रस्तुति में हठात् मन के अंदर एक भाव तरंग का संचार हुआ। श्रीअरविन्द की अतिमानस की अवधारणा (बल्कि उद्घोषणा कहना चाहिए) को चरितार्थ करने के लिए कई प्रेरणास्पद घटनाएँ स्मृत हो आती हैं। इस अंक में तीन-तीन महत्वपूर्ण तिथियाँ समाहित हैं इस कालावधि में ---

आरंभ करते हैं 4 अप्रैल से, श्रीअरविन्द की निम्न पंक्तियाँ मानव विकास की निश्चितता के लिए केवल आश्वासन ही नहीं देती बल्कि उनका जीवन इसे कर दिखाने का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

वे कहते हैं -"आध्यात्मिक अभीप्सा मनुष्य में सहज रूप से मौजूद है, कारण, पशु के विपरीत उसे अपूर्णता और परिसीमा का ज्ञान रहता है और वह यह अनुभव करता है कि जो कुछ वह अब है उस पार की कोई वस्तु उसे प्राप्त करनी है। मानव जाति में कभी भी अपने से परे जाने की प्रेरणा के लुप्त होने की संभावना नहीं है।"

-श्रीअरविन्द
(दिव्य जीवन)

सन 1910 की 4 अप्रैल को श्रीअरविन्द का पांडिचेरी पहुँचना एक आदर्शमय पार्थिव जीवन का आध्यात्मिक साधना की ओर बढ़ता क्रमिक चरण है। उसके पूर्व के उनके जीवन में हमें स्पष्ट रूप से श्रीअरविन्द के द्वारा पूर्णयोग हेतु निर्धारित तत्वों अभीप्सा-आस्था और समर्पण की ज्वलंत प्रस्तुति दृष्टिगोचर होती है। तत्पश्चात् 1914 में 29 मार्च को भारत में श्रीमाँ का प्रथम आगमन एवम् श्रीअरविन्द से भेंट। जिसके बारे में श्रीमाँ का कथन है---

"नीरवता में उन्होंने उस कार्य की महानता के बारे में बातचीत की, जिसे करना है। आने वाली विजय की भव्यता की बात की, जिसकी महिमामय प्रतिज्ञा पुरुष के चारों ओर चौंधियाने वाला प्रकाश था।"

- श्रीमाँ

संभवतः मनुष्य के साथ ही शुरू हो गई है यह चिरंतन चिंता कि क्या होने वाला है और यही दुश्चिंता उसकी यंत्रणा का एकमात्र नहीं तो प्रधान कारण तो है ही। वस्तुपरक चेतना के साथ शुरू

हुई दुश्चिंता, दर्द-भरी कल्पनाएँ, चिंता-यंत्रणा, भावी अनिष्टों की आशंका, जिनके फलस्वरुप अधिकतर मनुष्य, सबसे कम सचेतन ही नहीं बल्कि सर्वाधिक सचेतन मनुष्य भी निरंतर संताप में जीते हैं। मनुष्य इतना सचेतन है कि वह उदासीन नहीं रह सकता, पर इतना सचेतन भी नहीं कि यह जान सके कि क्या होगा। सचमुच भूल के बिना यह कहा जा सकता है कि धरती के सारे प्राणियों में मनुष्य ही सर्वाधिक दयनीय है। उच्च स्तर तक उठने की इस आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा और पशु की चेतना को आध्यात्मिक परा चेतना द्वारा स्थानांतरित करके ही सत्ता में न सिर्फ जीवन के उद्देश्य को देखने की और प्रयास की पराकाष्ठा को पहले से ही जान लेने की क्षमता आती है बल्कि उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति में स्पष्टदर्शी विश्वास भी आता है जिसके प्रति व्यक्ति पूर्ण आत्मसमर्पण कर सकता है, उसके भरोसे अपने आप को छोड़ सकता है, अपने जीवन और भविष्य को उसे सौंप सकता है और इस तरह सब चिंताओं से मुक्त हो सकता है। इसीलिए सभी आध्यात्मिक साधनाएँ पूरा भार समर्पित कर देने की और उच्चतर तत्वों पर भरोसा रखने की आवश्यकता से आरंभ होती हैं अन्यथा शांति असंभव है। ऐसा ही समर्पण हमें देखने को मिलता है श्रीमाँ के द्वारा श्रीअरविन्द के साथ उनके प्रथम मिलन के समय, जब उन्होंने जगत के सम्मुख पूर्ण समर्पण का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उसी शांति और भरोसे का अनुभव किया।

29 मार्च 1914 को श्रीमाँ की श्रीअरविन्द से प्रथम भेंट का एक विशेष आध्यात्मिक अर्थ तथा प्रतीक था। श्री ऋषभ चन्द लिखते हैं -

"यह युगांतरकारी घटना थी, मानव की आध्यात्मिक संस्कृति में मील का पत्थर था। इसने ऊर्जस्वी आध्यात्मिकता के एक नए युग का सूत्रपात किया। इसने ऐसी गति का श्रीगणेश किया जो इतिहास तथा मानवता को ज्ञात नहीं थी। उनके अथक सहयोग का मिशन था- मनुष्य को उसके मानसिक विक्षुब्ध झुटपुटे से निकालकर 'प्रकाश की शक्ति' की अनंत भव्यता की ओर बढ़ाना। युगों पुरानी उस तापस-वृत्ति को क्रियाशील जगत के पीछे से खींच लाना। जीवन को भागवत अभिव्यक्ति के क्षेत्र के रूप में समर्थित और स्वीकृत किया गया और अज्ञान तथा अचेतना की घातक मोर्चाबंदी के साथ भिड़ंत ने भविष्य-सूचक जीवन को शुरू कर दिया। एकमात्र अतिमानसिक प्रकाश की शक्ति जो अंधकार, दुख-दर्द तथा मृत्यु- जिससे पार्थिव जीवन आक्रांत है, के अधिपति का तख्ता पलट सकती है, उसे नीचे उतारा गया और भविष्य का निर्माण करने और भागवत नियति को उपलब्ध कराने के लिए प्रस्तुत किया गया। धरती ने स्वर्ग को ग्रहण करने के लिए स्वयं को तैयार किया। जड़-भौतिक को आलिंगन में भरने के लिए आत्मा ने अवतरण लिया।"

"अप्रैल की 24 तारीख इसी उज्जवल भविष्य की साक्षी है क्योंकि यही वह दिन है, जब श्रीमाँ की योगिक साधना इस पराकाष्ठा पर पहुंची कि वे श्रीअरविन्द आश्रम में सदा के लिए बस गईं। उनका यहाँ आकर बस जाना एक बहुत बड़ा महत्व रखता है, इस महत्व को तो भविष्य ही पूर्ण रूप से स्पष्ट कर सकता है परंतु आज भी हम इतना तो कम से कम समझ ही सकते हैं कि उनके

आने से श्रीअरविन्द की साधना कितनी तेजी से आगे बढ़ने लगी और जीवन के भिन्न-भिन्न स्तरों पर सशक्त होकर काम करने लगी। श्रीमाँ के आने से पहले आश्रम की अपनी कोई व्यवस्था नहीं थी, उसका अपना कोई विशेष रूप नहीं था। आश्रमवासियों की संख्या ऊंगलियों पर गिनी जा सकती थी, यहाँ तक कि श्रीअरविन्दकी दिव्य साधना को पूर्ण रूप से समझने वाला भी कोई नहीं था। श्रीमाँ के आगमन से आश्रम में जीवन, क्रम, व्यवस्था का एक प्रत्यक्ष रूप और व्यक्तित्व सभी कुछ आने लगा। एक सजीव मूर्तिमान् चेतन शक्ति अब प्रत्यक्ष रूप से काम करने लगी। जीवन में गति आने लगी। साधक-साधिकाओं की संख्या बढ़ने लगी और उनकी अनुभूतियाँ भी उच्चतर और गंभीर होने लगीं। पांडिचेरी में एक नई दुनिया ही बस गई और निःसंदेह रूप से योगेश्वर श्रीअरविन्दकी ***दिव्य जीवन*** की अपूर्व कल्पना भी बाह्य जगत में सजीव होने लगी। आश्रम में क्रमशः उस ***नवमानव*** की सृष्टि भी होने लगी जिसका विस्तृत वर्णन 'आर्य' पत्रिका की विविध लेख मालाओं में श्रीअरविन्दकर गए थे।"

(साभार उद्धृत--दिव्य दिवस -संपादन -डॉ अनिल बाजपेयी -मथुरा)

इस प्रकार श्रीमाँ के इस स्थायी आगमन ने आश्रम को वर्तमान स्वरूप प्रदान किया और श्रीअरविन्द के पूर्णयोग को मानव जीवन के दैनिक स्वरूप में स्थापित करने का उल्लेखनीय कार्य किया, जिससे आज हम सब लाभान्वित हो रहे हैं । आज हमें श्रीमाँ का मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा है, साथ ही इन तिथियों के स्मरण मात्र से एक प्रबल अंतःप्रेरणा प्राप्त होती है कि हम अपने कर्तव्य एवं दायित्व के प्रति जागरुक हों तथा श्रीमाँ के मार्गदर्शन का अनुकरण करते हुए श्रीअरविन्द के अतिमानस के अपूर्व स्वप्न के सहभागी बनें ।

आप सभी के प्रति अपनी इसी शुभेच्छा और मंगल कामना के साथ सस्नेह,

अपर्णा

श्रीमाँ के जीवन, परम्परा और योगदान पर प्रकाश

"मैं समुद्र में नाव पर थी जब बिना किसी प्रकार की आशा के अचानक ही अप्रत्याशित रूप से पांडिचेरी से लगभग 10 समुद्री मील दूर, वातावरण और वायु की गुणवत्ता में इतना परिवर्तन आ गया कि मैं जान गयी कि मैं श्रीअरविन्द के आभामंडल में प्रवेश कर रही थी। यह एक दैहिक अनुभव था और मैं निश्चित तौर पर कह सकती हूँ कि जिस किसी की भी चेतना पर्याप्त रूप से जाग्रत है, वह यह अनुभव कर सकता है"। श्रीमाँ ने यह 20 अप्रैल 1920 के उस दिन को याद करते हुए कहा था जब वे पांडिचेरी के फ्रांसिसी अंतःक्षेत्र के उस दक्षिणी किनारे पर पहुँची जिसको भारतीय दार्शनिक, क्रान्तिकारी व साधु श्रीअरविन्द ने अपनी तपस्या की गुफा बनाया था। यह दूसरा व निर्णयात्मक समय था जब श्रीमाँ (मीरा) एक नये युग के आरम्भ का संदेश देते हुए पांडिचेरी पहुँची। मार्च 1914 और फरवरी 1915 के बीच एक वर्ष से कम समय की अल्पकालीन अवधि तक ठहरने के पश्चात वे जापान चली गयीं थीं लेकिन श्रीअरविन्द की उपस्थिति में वापस लौटने की उनकी निष्ठा में कमी नहीं थी। जापान में मीरा 1918 के भीषण स्पेनिश फ्लू के दौरान रहीं जिसका उद्गम उस समय भी चीन से ही हुआ था। मीरा स्वयं भी फ्लू की पकड़ में आ गयीं थीं और उनका अंत सन्निकट था लेकिन वे बच गयीं।

बाद के वर्षों में मीरा पश्चिम और पूर्व को पूर्ण रूप से मिलाते हुए पश्चिम के लिये पूर्व की आकर्षक व्याख्याकार के रूप में उभरीं। वे श्रीअरविन्द की अग्रणी व्याख्याता, उनकी संकल्पना और कार्यों के सक्रिय आकार प्रदाता के रूप में पहचानी गयीं। मीरा, इस प्रकार, श्रीअरविन्द की भारत और विश्व के लिये परिकल्पना को पहचानने और इसे व्यवहारिक आकार देने वालीं सतत अनवरत् व अथक परिकल्पना का जीवन्त रूप थीं। अविनाशी ऊर्जा कोष, एक आधारभूत यथार्थवादिता, एक तीव्र प्रशासकीय समझ और असाधारण सगंठनात्मक शक्ति से संचालित मीरा ने, जो श्रीमाँ के रूप में रूपान्तरित हो गयीं, श्रीअरविन्द की विचार परम्परा में अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। वास्तव में उन्हीं के कारण श्रीअरविन्द के विचार, उनके संदेश और उनके योगदान ने भारत की सामूहिक चेतना में अमिट उपस्थिति पायी है।

भारत श्रीमाँ के लिये मनुष्य के आध्यात्मिक विकास और संभावनाओं का रंगमंच था। भारत की आध्यात्मिक उन्नति उनके लिये मानवमात्र की संभावित आध्यात्मिक उन्नति की मार्गदर्शिका थी। श्रीअरविन्द की ही तरह उनके लिये भी भारत की आध्यात्मिक नियति, जब जब मानव सभ्यता ने उसकी ओर सही समझ, प्रकाश और ज्ञान के लिये निहारा, अतंतः एक विश्व गुरू बनना ही थी-वह पात्र जो भारत की सभ्यता ने प्राचीनकाल से पाया और निभाया। भारत हमेशा माँ की आत्मा का देश रहा था, देश जिसको उन्होंने सदा ही अपनी 'सच्ची मातृभूमि' के रूप में अभिलक्षित किया। वे भारत के आन्तरिक स्व से सम्पूर्ण अपरिग्रही रूप में एकाकार हो गयी थीं। उन्होंने एक बार कहा था, "भारत एक पृथ्वी, नदियों और पर्वतों की भूमि नहीं है और ना ही यह इस देश के

निवासियों का सामूहिक परिचय है। भारत जीवन्त है, उतना ही जीवन्त जितने जीवन्त शिव हैं, माँ भारती देवी हैं, जैसे शिव एक देव।" श्रीमाँ के जीवन का एक मूलभूत व दृढ़ पहलू था-भारत के आध्यात्मिक भाग्य की पहचान और इस पहचान में ही वैश्विक जीवन के नये युग की सम्भावना छिपी थी। वर्षों तक उन्होंने भारत के आध्यात्मिक मानचित्र, जो अविभाजित भारत की संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक रहा है और अभी भी आश्रम के खेल के मैदान में स्थापित है, के सामने कक्षायें लीं और नेताओं से लेकर शिष्यों तक जीवन के सब क्षेत्र के लोगों से मिलीं। जब किसी ने सही नक्शे के बारे में कहा तो उन्होंने तुरन्त प्रत्युत्तर दिया, "वह नक्शा विभाजन के बाद बना है। सभी बीतते हुए आभासों के मध्य यही इस भारत का सही नक्शा है और लोग इस बारे में जो भी सोचें, यही सच्चे भारत का मानचित्र रहेगा"।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगौर से श्री गुरूजी गोलवाकर व विनोबा भावे तक, डा0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी से श्री के एम मुंशी व जवाहरलाल नेहरू तक, डा0 राजेन्द्र प्रसाद से लाल बहादुर शास्त्री व इन्दिरा गाँधी तक, यू एन ढेबर से के0 कामराज व नन्दिनी सत्पथी तक, हैदराबाद के स्वातन्त्रक जनरल जे0एन0 चौधरी से बांग्लादेश स्वतन्त्रता युद्ध के नायक जनरल जे0एफ0आर0 जैकब तक, डी0 एस0 कोठारी जैसे प्रसिद्ध शिक्षाविद् से महान साहित्यिक विनय कोठारी तक जैसे कुछ नामों में से प्रत्येक जो भी श्रीमाँ से मिला एक अमिट प्रेरणात्मक प्रभाव और जुड़न के साथ वापस आया। और फिर भी, जब उनसे उनकी 90वीं वर्षगाँठ पर ऑल इंडिया रेडियो द्वारा कुछ संदेश देने के लिये कहा गया, श्रीमाँ के अनेक आकर्षणों से भरपूर, अद्भुत जीवन घटनाओं, संघर्ष और प्राप्तियों का इतना प्रत्यक्ष और फिर भी इतना 'स्व-विस्मृत' उनके जीवन का स्मरण आश्चर्यजनक रूप से संक्षिप्त था, "मेरे स्मरण संक्षिप्त हैं। मैं भारत श्रीअरविन्द से मिलने आयी, मैं भारत में श्रीअरविन्द के साथ रहने के लिये रही। जब उन्होंने अपनी पार्थिव देह छोड़ दी, मैं यहाँ इसी लिये रहती रही कि उनका सत्य की सेवा और मानवीय जाग्रति द्वारा धरा पर ईश्वरीय प्रेम का साम्राज्य स्थापित होने का कार्य शीघ्रता से पूरा हो सके"।

भारत में उनके निर्णायक आगमन का समय 24 अप्रैल उनके जीवन, परम्परा और विशिष्ट योगदान पर प्रकाश डालने का आदर्श अवसर है।

लेखकः अनिरबन गांगुली

अनुवादिकाः रूपा गुप्ता

नीम का पेड़

सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फ़क़ीर'

श्रीअरविन्द आश्रम - दिल्ली शाखा, श्रीअरविन्द मार्ग पर है, जो बड़ा रास्ता कुतुब मीनार को जाता है - कुतुब मीनार से डेढ़ मील पहले ही।

आश्रम के मुख्य द्वार में घुसते ही एक बहुत बड़ा बूढ़ा शानदार नीम का वृक्ष था, जिसकी जड़ें गहरी चारों ओर फैली हुई थीं। इस वृक्ष की ऊँचाई लगभग दो सौ फुट और मोटाई तीस फुट और बडी-बड़ी डालें चारों ओर एक कुएँ के ऊपर फैली हुई। इसकी आयु सम्भवतः सौ वर्ष होगी।

श्रीमाँ ने नीम के वृक्ष को 'आध्यात्मिक वातावरण' का नाम दिया है। हम लोग बड़े सौभाग्यशाली हैं कि आश्रम में चारो ओर नीम के बहुत से वृक्ष हैं, परन्तु इस विशाल वृक्ष की कुछ और ही शोभा थी और दूसरे वृक्ष इसके बच्चे, पोते और परपोते जैसे लगते थे।

बहुत-सी बसें हमारे स्कूल के हज़ार-बारह सौ बच्चों को पढ़ने के लिए उनके घरों से लाती हैं और ये सारी बसें इस विशाल नीम के वृक्ष के नीचे से घूमती थीं और बसों के ड्राइवर, कंडक्टर सब लोग इस वृक्ष की छत्र-छाया में विश्राम करते थे।

पिछले वर्षों में कई बार ऐसी चर्चा हुई कि इस वृक्ष को गिरा दिया जाये। यह बहुत बूढ़ा हो गया है और रास्ते में अड़चन है। परन्तु यह बात कभी अच्छी नहीं लगती थी।

पिछले सप्ताह मेरे मन में एक असामान्य विचार और योजना प्रबल हुई और मैंने अपने सहायकों को इस विशाल वृक्ष के नीचे इकट्ठा किया। उनमें हर प्रकार के कर्मचारी थे, बढ़ई, इन्जीनियर आदि भी। मैंने उनसे कहा कि "मेरे मन में एक अजीब मूर्ख विचार आया है। यदि आप सब साथ देने का वचन दें तो मैं बताऊँ? सब लोगों ने हाँ कर दी।"

मैंने बतलाना शुरू किया 'इस विशाल वृक्ष के तने पर एक झोपड़ी बनायी जाये, जैसा कि जंगलों में शिकार के लिए मचान बनाया जाता है। यह झोपड़ी विशाल वृक्ष पर टिक जायेगी। केवल एक ओर स्तम्भ का सहारा देना पड़ेगा। झोपड़ी केवल पेड़ों की टहनियों और तख्तों आदि से बनायी जायेगी और इसका फर्श भी लकड़ी के तख्तों का होगा और चारो ओर खिड़कियाँ और एक ओर दरवाज़ा। छत फूस की होगी जैसे कि ओरोविल में झोपड़ियाँ बनायी गयी हैं। यह वर्णन सुनकर सब लोग रोमांचित हो गये।

शाम का समय था। दूसरे दिन उठते ही 'पाया' यानी थम्भ ईंटों और सीमेट से चिन दिया गया - झोपड़ी टिकाने के लिए और चारों ओर से सामान इकट्ठा करना शुरू कर दिया, जिससे कि झोपड़ी बननी थी।

एक दूसरी बैठक बुलायी गयी कि इस झोपड़ी में जाने के लिए सीढ़ी कैसे बनेगी। वाह! वाह। तुरन्त ही चमत्कार हुआ कि सीढी तो वृक्ष के तने में ही गहरे घाव (गड्ढे) करके बनायी जा सकती है। सभी लोग खिल उठे और सबसे अधिक मैं खुद। हम लोग सोच ही रहे थे कि यह कितनी अद्भुत झोपड़ी बनेगी और इसको कैसे अन्दर से सजाया जायेगा, और मेज-कुर्सी, सोफासेट आदि किस प्रकार के और किस ढंग से रखे जायेंगे और चारों ओर के दृश्य और बच्चों के खेल-कूद भी देख सकेंगे।

इतना ही नहीं, दूर देशो से जो पर्यटक कुतुब की ओर जाया करेंगे, उनके रास्ते में यह एक नया सुन्दर दर्शनीय स्थान बन जायेगा। जो दूर देश-देशान्तरों से सैलानी पर्यटक कुतुब देखने के लिए जायेंगे तो रास्ते में यह झोपड़ी भी अवश्य देखेंगे।

ऐसे मनोहरे विचारों और स्वपनों को देखते-देखते हम रात को सो गये कि प्रातः उठते ही झोपड़ी का निर्माण कर देंगे।

पर आह! रात में एक बहुत तेज और भयानक तूफान आया और प्रातः जब हम उठे तो क्या देखा कि वह विशाल बूढ़ा नीम का वृक्ष धरती पर सपाट गिरा पड़ा है और इधर-उधर सारे आश्रम-कैम्पस में कई और भी वृक्ष औंधे गिरे पड़े हैं।

हमारी सब योजनाएँ और षड्यंत्र धरे के धरे रह गये। झोपड़ी बनाने का स्वप्न, स्वप्नलोक में ही रह गया। ऐसा लगता था कि बूढ़े वृक्ष को हमारे सब कुचक्रों का आभास और संकेत हो गया था और मानो वह अपने ऊपर, अपने विशाल व्यक्तित्व पर कोई आघात, अपना अपमान और दुर्दशा सहन नहीं कर सकता था। शायद इसीलिए उसने अपने-आपको तूफान के हवाले कर दिया।

हमारे लिए इस विशाल वृक्ष का अन्त्येष्टि-संस्कार करने के लिए एक महीने का काम हो गया और यह इतना कठिन काम हमारे सिर पर आ पड़ा कि इसको कैसे उठाया जाये और कैसे और कहाँ काट-काटकर टुकड़े किये जायें और कैसे और कब इस स्थान से इसे पूरी तरह से हटाया जाये, साफ किया जाये।

सैंकड़ों जगह से उसे काटा गया और टुकड़े किये गये। और कुन्दों को मशीन पर ले जाकर चिरवाया गया। सब तरह के इस्तेमाल की दृष्टि से उसे अलग-अलग छाँटा गया फर्नीचर तथा मकान बनाने के काम में आनेवाली लकड़ी अलग कर ली गयी और अन्त में जो बचा, उसको खाना पकाने के जलावन के लिए रखा गया और छोटे-छोटे टुकड़े ट्रक में भरकर ईंटो के भट्टे पर भेजे गये ईंटें पकाने में जलाने के लिए।

वृक्ष का एक-एक अंग काम में लाया गया। पत्तों को खाद के गड्ढ़ों में दबा दिया गया और जो निबोलियाँ गिरीं उन्हें इकट्ठा करके तेल निकालने के लिए भेज दिया गया, जिस तेल से बहुत लाभदायक साबुन बनते है और तेल निकालने के बाद जो खली बची उसे विशेष प्रकार की खाद के लिए रख लिया गया। और इधर-उधर दूर तक जो निबोलियाँ गिर कर दब गयीं उनमें से नये पौधे उगने लगे और नयी सन्तान पैदा होनी शुरू हो गयी। वृक्ष का कोई अंग ऐसा नहीं था जो

किसी-न-किसी प्रकार काम में न आ गया हो।

संसार में सब वनस्पति, सब प्रकार के वृक्ष, पशु-पक्षी, समुद्र के जीव-जन्तु, रेंगने वाले प्राणियों (Reptiles) के भी अवशेष, खाल आदि महत्वपूर्ण और लाभदायक कामों में प्रयोग किये जाते हैं परन्तु मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसका मृत शरीर किसी भी काम नही आता, जब तक कि मनुष्य भागवत् चेतना से जुड़कर और साधु-सन्त, महात्मा का जीवन व्यतीत न करे और मनुष्य मात्र के लिए पूजा का पात्र न बन जाये।

भगवान् स्वयं को उन लोगों को सौंप देते हैं जो स्वयं को समग्र रूप से भगवान् को समर्पित कर देते हैं। उनके लिए शांति, प्रकाश, शक्ति, आनंद, स्वतंत्रता, व्यापकता, ज्ञान की ऊँचाई, आनंद का सागर सहज-सुलभ है।

15 अगस्त 1929

श्रीअरविन्द की एक प्रार्थना

तो, श्रीअरविन्द काली को बड़ी मुक्तिदायिनी शक्ति मानते हैं जो तुम्हें लगन के साथ प्रगति करने की ओर प्रवृत्त करती है और तुम्हारे अंदर कोई बंधन नहीं छोड़ती जो तुम्हें प्रगति करने से रोके ।

विस्तृत होओ मेरे अंदर, हे वरुण;
शक्तिशाली बनो मेरे अंदर, हे इंद्र;
हे सूर्य, प्रदीप्त हो और भास्वर बनो;
हे चन्द्र, शोभा-सुषमा और मधुरिमा से भर उठो।
उग्र और भयंकर बनो, हे रुद्र;
प्रचंड और वेगवान् बनो, हे मरुत् ;
बलवान् और साहसी होओ, हे अर्यमा;
विलासी और सुखदायी बनो, हे भग;
कोमल, कृपालु, प्रेमिल और अनुरागी बनो, है मित्र;
उज्ज्वल और उद्भासक होओ, हे उषा;
हे निशे, भव्य और उर्वर बनो;
हे जीवन, परिपूर्ण, प्रस्तुत और प्रफुल्ल होओ;
हे मृत्यु, एक सौध से दूसरे सौध तक मुझे ले चलो।
इन सबको एक लय-तालमें बाँध दो, हे ब्रह्मणस्पति।
मैं इन देवताओं का दास न बनूँ, हे काली!'

श्री मातृवाणी, खण्ड ९ पृ ३७६-३७७

29 मार्च 1914.....

२९ मार्च १९१४ वह दिन था जिस दिन श्रीमाँ की प्रभु से प्रथम भेंट हुई थी। यह कोई साधारण घटना नहीं थी। इस का अपरिमेय आध्यात्मिक अर्थ तथा प्रतीक था। वह युगान्तरकारी घटना थी, मानव की आध्यात्मिक संस्कृति में मील का पत्थर था। इसने ऊर्जस्वी आध्यात्मिकता के एक नये युग का सूत्रपात किया। इसने ऐसी गति का श्रीगणेश किया जो इतिहास तथा मानवता को ज्ञात नहीं थी। उनके अथक सहयोग का 'मिशन' था, मनुष्य को उसके मानसिक विक्षुब्ध झुटपुटे से निकाल कर 'प्रकाश की शक्ति' की अनन्त भव्यता की ओर बढ़ाना। युगों पुरानी उस तापस-वृत्ति को क्रियाशील जगत् से पीछे खिंच आना चाहिये, उसके प्रचलित मुखौटे से निकाल कर, पूर्ण आध्यात्मिकता के प्रकाश में अनावृत कर, अतीत के कारागार में डाल दिया गया। जीवन को भागवत 'अभिव्यक्ति' के क्षेत्र के रूप में समर्थित और स्वीकृत किया गया और अज्ञान तथा अचेतना की घातक मोर्चाबन्दी के साथ भिड़न्त ने भविष्यसूचक जीवन को शुरू कर दिया। एकमात्र अतिमानसिक 'प्रकाश की शक्ति', जो अन्धकार, दुःख-दर्द तथा मृत्यु - जिससे पार्थिव जीवन आक्रान्त है - के आधिपत्य का तख्ता पलट सकती है, उसे नीचे उतारा गया और भविष्य का निर्माण करने और भागवत नियति को उपलब्ध कराने के लिए प्रस्तुत किया गया। धरती ने स्वर्ग को ग्रहण करने के लिए स्वयं को तैयार किया। जड़-भौतिक को आलिंगन में भरने के लिए आत्मा ने अवतरण लिया।

* * *

पहली भेंट

मधुर माँ

(माँ ने अपने जीवन की प्रारम्भिक घटनाओं, पेरिस से भारत की यात्रा और श्रीअरविन्द से पहली मुलाक़ात के विषय में लिखा है। उसी का अंश ....)

जापान में ही मेरी भेंट टालस्टॉय के एक पुत्र से हुई थी। वे मानव एकता सिखाने के लिए पूरे विश्व का भ्रमण कर रहे थे । मैं उनसे किसी मित्र के यहाँ मिली थी और मैंने उनसे पूछा था कि वे किसी पद्धति से मानव एकता को पाने के सुझाव दे रहे हैं। उन्होंने जवाब दिया, "ओह! बहुत आसान है। यदि हर कोई एक भाषा बोले, एक ही तरीके से पहने ओढ़े और एक ही ढंग से रहे तो सारा संसार एक हो जाएगा।" तब मैंने उनसे कहा, "ओह। तब यह दैन्य संसार होगा। न रहने लायक एक जगह।" पर वे मेरी बात नहीं समझे।

अलजीरिया से लौटने के बाद पेरिस में सात-आठ युवा जनों के साथ मिलकर मेरे यहाँ साप्ताहिक बैठकें हुआ करती थीं जिनमें गम्भीर विषयों जैसे जीवन का लक्ष्य, स्वप्न, मानव एकता, शब्दों एवं विचारों की शक्ति आदि पर वार्तालाप एवं प्रश्नोत्तर हुआ करते थे। कोई एक विषय

चुनकर सब को दे दिया जाता था और अगले सप्ताह सब उस पर अपने-अपने विचार लिखकर लाते थे। इन बैठकों की पहली गोष्ठी का विषय था-

"वह कौन सा लक्ष्य है जिसे प्राप्त करना है? सबसे उपयोगी कार्य कौन सा है, और उस लक्ष्य को पाने और कार्य करने के तरीके कौन से हैं?" मेरा उत्तर इस प्रकार था, "जिस आम लक्ष्य को हमें प्राप्त करना है वह है- सतत प्रगतिशील विश्वव्यापी सामंजस्य का आविर्भाव।"

पृथ्वी के लिए इस उद्देश्य को प्राप्त करने का उपाय है सब के अन्तःस्थित देवत्व को जागृत करके एवम् सबके द्वारा उसे अभिव्यक्त करके मानव-एकता प्राप्त करना। दूसरे शब्दों में हम सबके अन्दर विद्यमान प्रभु के साम्राज्य की स्थापना द्वारा एकता का सृजन करना।

मैं उस समय तक श्रीअरविन्द से नहीं मिली थी और न उन्होंने इस विषय पर कुछ लिखा था क्योंकि यह सन् 1912 की बात है। फिर भी उनके उद्देश्य को अर्थात् अतिमानस जीवन के दर्शन को उपरोक्त शब्दों में मैंने व्यक्त कर दिया था।

'करने योग्य कार्य कौन सा है' इस पर मैंने विचार व्यक्त करते हुए कहा था- "सबसे उपयोगी करने योग्य कार्य यही है कि जिन आदर्शों को हमें प्राप्त करना है उन्हें प्रथम हम अपने अन्दर सिद्ध करें। उन शाश्वत परम तत्व की समस्त गतियों, धर्मों और गुणों की प्रथम अभिव्यक्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करें। स्वयं उदाहरण बनकर एक सत्यान्वेशी लोगों के समुदाय द्वारा एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना करें जो प्रभु के पुत्रों का समाज हो। आन्तरिक विकास अर्थात् भागवत ज्योति के साथ सतत सम्पर्क एवम् एकत्व ही वह एक मात्र अवस्था है। जिसमें मनुष्य विश्व जीवन की महान धारा के साथ सर्वदा सामन्जस्य बनाए रख सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं और व्यक्तिगत अभिरुचियों के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र चुन लेना चाहिए, विश्व की इस संगोष्ठी में उसे अपना निजी स्थान चुन लेना होगा जिसे केवल वही ले सकता है और फिर उस स्थान की पूर्ति में अपने आपको इस भाव से जोड़ देना होगा कि वह इस स्थूल संगीत रचना में एक स्वर ही बजा रहा है, तो भी संगीत के माधुर्य और सामंजस्य के लिए उसका स्वर अनिवार्य है तथा उसके स्वर का मूल्य एवं संगीत का सौन्दर्य उसके ठीक-ठीक बजाने में निहित है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति को एक भूमिका निभानी है, एक कार्य करना है। प्रत्येक का एक अपना स्थान है जिसे केवल वही भर सकता है।"

"अपने विशिष्ट कार्य का निश्चित रूप जानने से पहले हमें कार्य की दिशा एवं प्रकृति, उसकी गति, अपने स्वभाव एवं आन्तरिक स्पन्दनों को भली भाँति सीखना जानना चाहिए और उन्हें व्यक्त करने योग्य हो जाने का अभ्यास करना चाहिए।"

"विचारों का स्वामी कैसे बना जाए?' इस विषय पर मेरा मत है कि सर्वप्रथम हमें आत्म-निरीक्षण द्वारा यह जानना चाहिए कि हमारे कर्म और क्रियाएँ हमारे विचारों को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति देती हैं या नहीं। जब तक हमारा अपनी मानसिक क्रियाओं पर अधिकार नहीं होता तब तक हमारे विचार बाहरी प्रभावों एवं सुझावों के प्रतिबिम्ब तथा प्रतिक्रिया मात्र होते हैं अतः

अपनी मानसिक गतिविधियों के सार्थक निर्देशन के लिए हमारा सतत् संकल्प रहना चाहिए। इससे भी अधिक एक और बात के प्रति सजग होना चाहिए कि अपने अन्दर के उस विचार को जो सबसे उदात्त, ऊँचा एवं निःस्वार्थ प्रतीत होता है, केन्द्रीय धुरी बनाकर उसी के प्रकाश में अन्य विचारों को स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देने का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए एक दैनिक नियमित अनुशासन के द्वारा ईमानदारी, संकल्प एवं अध्यवसाय से हमें उस विचार को दृढ़ करना होगा तथा उस नियम का पालन करना होगा।

इसी प्रकार शब्द शक्ति विषय की व्याख्या करने के पश्चात् माताजी ने 'ॐ' शब्द का उदाहरण दिया था....'

ओम् शब्द शक्ति एवं संवेदना तथा जीवंत प्रभाव का सर्वोच्च प्रतीक है। इसे भारत में दिव्य उपस्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जैसे ओम् की ध्वनि शाश्वत, शान्ति और सौम्यता के स्पन्दनों को जागृत करती है वैसी अन्य कोई ध्वनि नहीं करती।

सन् १९१२ में माताजी अपने अनुभवों एवं उद्गारों को डायरी में नोट कर लिया करती थीं। यही डायरी आगे चलकर 'प्रार्थना और ध्यान' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक फ्रेंच में कई वर्षों के गहन यौगिक अनुशासन के दौरान लिखी गई है। यह तीन प्रकार के साधकों का दिशानिर्देश कर सकती है--

(१) वे जिन्होंने आत्म-प्रभुत्व पाने का संकल्प किया है।

(२) वे जो प्रभु की ओर जाने वाले पथ को पाना चाहते हैं।

(३) वे जो अधिकाधिक प्रभु का कार्य के प्रति स्वयं को एकाग्र करना चाहते हैं और उसकी अभीप्सा करते हैं।

(इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण (Prayers & Meditations) की भूमिका में माताजी ने इन शब्दों में इन प्रार्थनाओं का उद्देश्य प्रस्तुत किया था।)

"कुछ जन प्रभु को अपनी आत्मा देते हैं और कुछ अपना जीवन। कुछ लोग उन्हें अपने कर्म समर्पित करते हैं और कुछ धर्म। कुछ ही जन पूर्णतया अपने को, उनके पास जो कुछ है उनकी आत्मा, जीवन, कर्म और धन उन्हें समर्पित करते हैं। वे ही प्रभु के सच्चे बालक हैं। दूसरे जो कुछ नहीं देते, उनके चाहे जो भी पद, प्रतिष्ठा, शक्ति, अधिकार व धन हो, परमात्मा के प्रयोजन की दृष्टि से मूल्यहीन शून्य हैं। यह पुस्तक उन्हीं के लिए है जो परमात्मा के प्रति पूर्णतया समर्पित होने की अभीप्सा करते हैं।"

(श्रीअरविन्द ने माताजी की इन प्रार्थनाओं के लिए लिखा है) :- "ये प्रार्थनाएँ अधिकांश में पृथ्वी चेतना से तादात्म्य होकर लिखी गई हैं। वे माँ हैं निम्न प्रकृति में जो उच्च प्रकृति में प्रतिष्ठित माँ को सम्बोधित कर रही हैं। ये माँ रुपान्तर के लिए पृथ्वी चेतना की साधना को सम्पन्न करती हुई स्वयं ही उच्चस्तरीय माँ से प्रार्थना कर रही होती हैं और यह साधना तब तक चलती है जब तक पृथ्वी चेतना से तादात्म्य हो और उच्च चेतना प्रभावित हो। ये माँ है जो साधना भी कर रही

है और दिव्य माता भी हैं लेकिन पृथक् भूमिकाओं में और दोनों ही दिव्य प्रभु की ओर उन्मुख हैं।"

माता जी की प्रार्थनाओं के कुछ अंश - "दिव्य माता, तुम हमारे साथ हो, प्रत्येक दिन तुम मुझे इस बात का आश्वासन देती हो और फिर हम अधिकाधिक घनिष्ठ और सतत रूप से एकात्म हो जाती हैं तथा फिर उस विश्वातीत एवम् विश्व प्रभु की ओर उन्मुख होकर नवीनतम प्रकाश की अभीप्सा करती हैं। समूची पृथ्वी एक रुग्ण शिशु की तरह हमारी गोद में है जिसे नीरोग होना है और उसकी इसी दुर्बलता के कारण हमारा उस पर विशेष प्रेम है।"

"हे प्रभु, मैं तुझसे प्रार्थना करती हूँ कि यदि मेरी बुद्धि सीमित हो तो उसे विस्तृत कर, यदि मेरा ज्ञान धूमिल हो तो उसे आलोकित कर यदि मेरा हृदय ऊष्मा रहित हो तो उसे प्रदीप्त कर, यदि मेरा प्रेम तुच्छ हो तो उसे सघन कर, यदि मेरी भावनाएँ अज्ञ एवं अग्रस्थ हो तो उन्हें सत्यता में जाग्रत व सचेतन बना।

और मेरा यह 'मैं' जो तेरी प्रार्थना कर रहा है अन्य सैकड़ों के बीच खोया कोई एक तुच्छ व्यक्तित्व नहीं है। यह तो समूची पृथ्वी है जो पूर्ण उत्साह में भर तेरी अभीप्सा करती है।"

मुझे भारत आने की अत्यधिक अभिलाषा थी। मैं पहली बार जब भारत आई तो एक जापानी जहाज से आई थी। यह सन् १९१४ की बात है। उस जहाज पर दो पादरी अलग-अलग सम्प्रदाय के थे। रविवार आया। जहाज पर एक धार्मिक समारोह होना ही था वरना वे दोनों जापानियों की तरह गैर ईसाई साबित होते। समारोह होना तो था पर इसे उन दोनों पादरियों में से सम्पन्न कौन करे। दोनों के बीच लड़ाई होते-होते बची। आखिर में एक ने अपने को बाइज्जत अलग कर दिया।

यह समारोह जहाज के बैठकखाने में हुआ। गर्मियों के बावजूद उस दिन सब लोगों ने अपने जैकेट पहने, नेक टाई पहनी हैट लगाए एवम् बगल में प्रार्थना पुस्तक दबाये सबने बैठकखाने में एक जुलूस के रूप में प्रवेश किया। स्त्रियों ने भी अपने हैट पहने और कुछ छाते भी संग ले गईं। फादर ने अपने उपदेश पढ़े और हर किसी ने बड़े धार्मिक भाव से सुने। जब यह कार्यक्रम पूरा हो गया, सब बड़े संतुष्ट भाव से, जैसे कोई अपना कर्तव्य पूरा कर संतुष्ट होता है, वापस आए। और लो, बेशक सिर्फ पाँच मिनट बाद ही वे बार में ड्रिंक कर रहे थे, ताश खेल रहे थे और उस उपदेश और कार्यक्रम को पूरी तरह भूल गए थे।

मैं डेक पर थी तो वह फादर मेरे पास आए और शिष्टतापूर्वक पूछा कि मैं समारोह में क्यों नहीं आई थी। मैंने उत्तर दिया, "सर, खेद है लेकिन मैं धर्म में विश्वास नहीं करती। "ओह, ओह तो तुम भौतिकवादी हो।"

"न, बिलकुल नहीं।"

"तब फिर क्यों नहीं?"

मैंने कहा, "यदि मैं आपको कारण बताऊँगी तो आप निश्चय ही अप्रसन्न होंगे इसलिए कुछ

न कहना ही बेहतर है।" लेकिन उन्होंने इतना जोर दिया कि आखिर मुझे कहना ही पड़ा,

"समझने की कोशिश करें। मैं नहीं मानती कि आप 'सच्चे' हैं या आपका वह समूह सच्चा है जो वहाँ उपस्थित हुआ। आप सब वहाँ एक सामाजिक कर्तव्य व एक सामाजिक रिवाज पूरा करने के लिए इकट्ठे हुए। इसलिए कतई नहीं कि आप वास्तव में भगवान के सान्निध्य में प्रविष्ट होना चाहते हैं।"

"भगवान के सान्निध्य में प्रविष्ट होना.....? लेकिन वह हम नहीं कर सकते। जो कुछ हम कर सकते हैं इतना ही है कि कुछ अच्छे शब्द बोलें। हममें भगवान के सान्निध्य में प्रविष्ट होने की क्षमता नहीं है।"

"लेकिन ठीक इस वजह से मैं नहीं गई क्योंकि ये सब ऊपरी ढंग मुझे रुचिकर नहीं हैं।" इसके पश्चात उस पादरी ने मुझसे अनेक प्रश्न पूछे और यह स्वीकार किया कि वे चीन जा रहे थे ताकि गैर ईसाइयों को धर्म परिवर्तन के लिए राजी करें। यह बात सुनकर मैं गम्भीर हो गई और मैंने कहा, "सुनिए, जब आपका धर्म पैदा हुआ था उससे बहुत पहले चीन के पास बहुत ऊँचा दर्शन था और वे भगवान की ओर जाने वाले रास्ते को जानते थे। वे लोग जब पश्चिमी लोगों के बारे में सोचते हैं तो उन्हें असभ्य, बर्बर मानकर ही सोचते हैं और आप उनके धर्म परिवर्तन के लिए जा रहे हैं जो इस विषय में आपसे कहीं अधिक जानते हैं। आप उन्हें क्या सिखाने जा रहे है? असत्य बोलना? खोखले समारोह पूरे करना? मैं नहीं सोचती कि आप कोई भला काम करने जा रहे हैं।" उस पादरी ने बड़ी घुटन महसूस की बेचारा व्यक्ति...। उसने मुझसे कहा, "आप मुझे अपनी युक्ति से सहमत नहीं कर सकतीं।"

"मैं करना भी नहीं चाहती। मैंने सिर्फ वास्तविक स्थिति स्पष्ट की है। मैं नहीं समझती कि असभ्यों को सुसंस्कृत लोगों को कुछ सिखाने की इच्छा रखनी चाहिए।" और बात वहीं खत्म हो गई।

मैं २९ मार्च १९१४ को पांडिचेरी पहुँची थी और उसी दिन तीसरे प्रहर श्रीअरविन्द से भेंट की थी ज्योंही मैंने श्रीअरविन्द को देखा, मैंने पहचान लिया कि ये वही हैं जिन्हें अपने ध्यान में मैं देखा करती थी और 'कृष्ण' कहकर पुकारा करती थी। यह एक साक्षात्कार था... और जब तुम जान लेते हो कि प्रभु सामने हैं तो फिर कोई सन्देह या प्रश्न की बात अन्दर नहीं रह जाती। मैंने पूरी तरह अपने बोझ को उनके सामने उतारकर रख दिया और एकदम हल्की और प्रफुल्लित हो गई। मैंने पूरी तरह अपने को उनकी दिव्यता के प्रति समर्पित कर दिया। उसके बाद जो कुछ उन्होंने कहा मैंने बिना किसी प्रश्न, सन्देह और हिचकिचाहट के उसे स्वीकार कर लिया।

.. मैं श्रीअरविन्द के चरणों के समीप बैठ गई थी। अपनी आँखें बन्द कर अपने मन को उनकी ओर खोल दिया था....। कुछ क्षण पश्चात् ऊपर से एक अनन्त नीरवता का अवतरण हुआ.. हर चीज चली गई - बड़े ऊँचे, महान विचार अदृश्य हो गए और शेष रह गई अविचल प्रतीक्षा उस परम तत्व के लिए जो मन के परे था। (माताजी ने इस भेंट के अनुभव को इन शब्दों में अपनी

डायरी में व्यक्त किया था।)

"कोई परवाह नहीं कि हजारों लोग घनी अज्ञानता में डूब हुए हैं। वे, जिन्हें हमने कल देखा, पृथ्वी पर उपस्थित हैं। उनकी उपस्थिति यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि एक दिन आएगा जब अन्धेरा रोशनी में परिणत हो जाएगा और तुम्हारा राज्य (हे प्रभू !) वास्तविक रूप में पृथ्वी पर स्थापित होगा ।"

He seemed the wideness of a boundless sky
He seemed the passion of a sorrowless earth
He seemed the burning of a world-wide Sun
Two looked each other, soul saw soul.

वे एक असीम आकाश की व्यापकता लग रहे थे
वे एक दुःख रहित पृथ्वी का जुनून लग रहे थे
वे एक विश्वव्यापी सूर्य की जलन लग रहे थे
दोनों ने दूसरे को देखा, आत्मा ने आत्मा को देखा।

* * *

(पूर्णप्रेम ने १९७८ में इस घटना का वर्णन इन शब्दों में किया है।)

मार्च १९१४ में मधुर माँ श्रीअरविन्द से मिलने पैरिस से पांडिचेरी आईं। वे कोलम्बो पहुँची और वहाँ से उन्होंने पांडिचेरी के लिए रेल पकड़ी। वे यू फ़्रांसुआ मार्तें (Rue François Martin) आयीं, उस घर के ज़ीने पर चढ़ीं जिसे आज 'गेस्ट हाउस' के नाम से जाना जाता है, जो आश्रम के 'प्लेग्राउण्ड' के एक कोने में स्थित है। और यहाँ उन्होंने 'उनको' देखा जिन्हें वे बचपन से "कृष्ण" के नाम से पुकारा करती थीं। श्रीअरविन्द उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वह दिवस था- २९ मार्च १९१४।

उन्होंने पास ही में एक घर किराये पर ले लिया। आज वहाँ 'आर्काइव्ज़ ऑफ़िस' है। अपने घर की छत से वे श्रीअरविन्द को शाम को, सूर्यास्त के समय उनके बरामदे में चहलकदमी करते हुए देख सकती थीं। दिन में वे श्रीअरविन्द से मिलने आती थीं और जब दूसरे लोग श्रीअरविन्द से बातचीत किया करते, वे उनसे विकीरित होती हुई शान्ति में पूरी तरह एकाग्रचित्त, चुपचाप बैठी रहतीं। श्रीमाँ बतलाती हैं, "मैं स्वयं से कहा करती, 'यह सचमुच अद्भुत अलौकिक है', और मैं इस अनमोल सम्पदा को अपने अन्दर सावधानी के साथ संजो कर रखने के लिए निरन्तर ध्यान में लगी रहती हूँ। तब से यह मेरे साथ बनी हुई है।"

देवमाता

एक सचेतन एवं शाश्वत शक्ति है विद्यमान
इस शोकग्रस्त और मरणशील जीवन के पीछे
एवं 'विचार' की भ्रान्ति तथा 'काल' के विनाशकारी क्रम की पृष्ठभूमि में ।
यह देवमाता, है उसकी भगिनी एवं साथी,
उसकी ज्ञान गरिमा की पुत्री, उसके मनोबल की संगिनी,
वह उछली है ऊपर परमेश्वर के गुप्त वक्ष से
मन और प्राण का अपना इन्द्रधनुषी जगत निर्मित करने के लिए ।
उच्चतर चेतना के चरम प्रकाश
एवं अवचेतन के विशाल विवेकहीन घोर संघर्ष के बीच
और निरन्तर समान गति से घूमते जड़ भौतिक की निद्रा
एवं नक्षत्रों की निद्राचारी गतिशीलता के बीच
वह उस भावहीन अनिच्छुक महाकाश पर डालती है
जीवन के साहसिक अभियान तथा अपनी 'इच्छा' के भाव प्रवण स्वप्नों
का बलशाली प्रभाव ।
तामसिक ताकतों के दुष्कार्यों के बीच वह यहाँ उपस्थित है
सुधार देने के लिए वैश्विक भूलों एवं अनिष्टों को
तथा परिवर्तित करने के लिए अज्ञानी जगत की दुखान्त अवस्था को
आनन्द के दिव्य सुखान्त प्रहसन में
और ईश्वरीय उल्लास के प्रखर अट्टहास में ।
वह देवमाता है हमारी आत्माओं की स्वामी;
हम कालचक्र के गतिक्रम में हैं उसके साझीदार और उत्तराधिकारी,
तथा उसकी शाश्वतता के हैं अंशभाग ।

महानिशा का तीर्थयात्री

एकमेव आत्मन्

श्रीअरविन्द

सभी भ्रमित हैं, करते हैं वही जो आदेश देती है एकमेव शक्ति,
फिर भी सब सोचते हैं कि उनकी इच्छा से परिचालित है उनकी प्रकृति;
द्वेषी नहीं जानता कि स्वयं से ही करता है विद्वेष,
प्रेमी नहीं जानता कि वह स्वयं से ही करता है प्रेम।

सभी में निहित है एक ही सत्ता जिसे अनेक शरीर करते हैं धारण,
वहाँ कृष्ण वन के कुंज में करते हैं वंशी वादन,
वहाँ हैं आसीन जटाजूट धारी भस्म-भूति रमाये भगवान शिव।
किन्तु कृष्ण एवं शिव हैं एक ही देव के स्वरूप।

हममें भी कृष्ण खोजते हैं प्रेम और आनन्द,
हममें भी शिव विश्व के दुखों के साथ करते हैं द्वन्द्व।
हम सबमें एक ही 'आत्मा' करता है कष्ट सहन,
अपने भाग्य से चाहता है मुक्ति और अपने दुख में करता है रूदन।

मेरे विरोधी का पतन है मेरा ही कलंक,
मैं अपने शत्रु में देखता हूँ कृष्ण मुख वदन।

महानिशा का तीर्थयात्री

भारतीय संस्कृति के एक बुद्धिवादी आलोचक – 1

श्रीअरविन्द

(मेरे लिये यही जानना काफी है कि इमर्सन या शोपनहावर या नित्शे को - जो इस क्षेत्र में तीन सर्वथा भिन्न प्रकार के मनीषी हैं और तीनों ही अत्यंत शक्तिशाली हैं, - अथवा कजिन और श्लीगल (Schlegel) जैसे विचारकों को इस विषय में क्या कहना है, या फिर मेरे लिये यह देखना ही काफी है कि भारतीय दर्शन की कुछ एक परिकल्पनाओं का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और प्राचीनतर यूरोपीय चिंतन में भी विचार की महान् समानांतर धाराएँ थीं और साथ ही अत्यंत अर्वाचीन अनुसंधान-अन्वेषणके परिणाम स्वरूप प्राचीन भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान के पोषक प्राप्त हो रहे हैं।)

जब हम किसी संस्कृति का मूल्यांकन करने का यत्न करते हैं, और जब वह संस्कृति ऐसी होती है जिसमें हम पाल पोसकर कर बड़े हुए हैं या जिससे हम अपने सर्वोपरि आदर्श ग्रहण करते हैं और इसलिये जिसकी त्रुटियों को बहुत ही कम करके दिखला सकते हैं अथवा उसके जो पक्ष या मूल्य एक अनभ्यस्त दृष्टि को एकदम आकृष्ट कर लेंगे वे, अतिपरिचय के कारण, हमारी दृष्टि से छूट भी सकते हैं -- ऐसी दशा में यह जानना कि दूसरे लोग उसे किस दृष्टि से देखते हैं सदा ही उपयोगी और मनोरंजक होता है। इसमें हम अपने दृष्टिकोण को बदलकर दूसरों का दृष्टिकोण अपनाने नहीं जायेंगे। बल्कि इस प्रकार के अनुशीलन से हमें एक नया प्रकाश मिल सकता है उससे हमारे आत्मनिरीक्षण में सहायता प्राप्त हो सकती है।

परंतु एक विदेशी सभ्यता और संस्कृति को देखने की कई अलग-अलग दृष्टियाँ होती हैं। एक दृष्टि होती है सहानुभूति और संबोधि की तथा विषयवस्तु के साथ एकाकार होकर गंभीर गुणान्वेषण करने की : यह दृष्टि हमें बहन निवेदिता की 'भारतीय जीवन का ताना-बाना' या श्री फिल्डिंग की बर्मा-विषयक पुस्तक या सर जान उड्रफ की तंत्र-संबंधी पुस्तक जैसी कृति प्रदान करती है। ये ऐसे प्रयत्न हैं जो सभी ढकनेवाले पर्दों को एक ओर हटाकर एक जाति की आत्मा-को प्रकाश में लाने के लिये किये गये हैं।

फिर एक विवेकशील और निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि जो वस्तु को उसके मूल आशय और यथार्थ रूप दोनों में देखने की चेष्टा करती है, प्रकाश और छाया दोनों का भाग निश्चित करने, गुण और दोष तथा सफलता और विफलता को तौलने, जो चीज गुणग्राही सहानुभूति को जगाती है और जो आलोचनात्मक निंदा की मांग करती है, उन दोनों में भेद करने का यत्न करती है।

अंत में आती है विरोधी आलोचक की दृष्टि; उसे यह विश्वास होता है कि विचारास्पद संस्कृति निश्चित ही हीनतर है और इसलिये वह, जानबूझकर अनुचित आरोप लगाये बिना अपने मत की पुष्टि के लिये स्पष्टता और सच्चाई के साथ ऐसी युक्ति देता है जिसे वह यथार्थ भी समझता है।

उसकी दृष्टि भी हमारे लिये उपयोगी होती है।

परंतु विरोधी आलोचना को, कुछ वास्तविक या निभ्रांत मूल्यवाली होने के लिये, आलोचना मात्र होना चाहिये न कि निंदा और मिथ्या साक्षी, और न ही कीचड़ उछालना; उसे तथ्यों को बिना बिगाड़े प्रस्तुत करना होगा, अपने निर्णय का मानदंड सुसंगत बनाये रखना होगा, न्याय, सुविचार और संयम प्राप्त करने के लिये कुछ प्रयत्न करना होगा। इसमें संदेह नहीं कि मिस्टर विलियम आर्चर की भारत-विषयक सुप्रसिद्ध पुस्तक, जिसे मैंने उसके अवगुणों के ही कारण हमारी संस्कृति के संबंध में पाश्चात्य या भारत-विरोधी विशिष्ट दृष्टि के नमूने के रूप में चुना है, इस कोटि की रचना नहीं थी। इतना ही नहीं कि इसमें हमारी संस्कृति की सभी चीजों की जी खोल-कर निंदा की गई है; उसका एक ऐसा चित्र दिखाया गया है जिसमें सब छाया ही छाया है, प्रकाश का नाम तक नहीं।

आर्चर के वर्णन में तीन बातें हैं जो उसके कथन को दूषित बनाती है:

प्रथम, इसके पीछे एक परोक्ष, एक राजनीतिक उद्देश्य था;

द्वितीय, यह इस भाव को लेकर चला था कि भारत के स्व-शासन के दावे को क्षुण्ण या निर्मूल करने के लिये उसे पूर्ण रूप से बर्बर सिद्ध करना होगा; इस प्रकार का बाह्य उद्देश्य तुरंत ही उसकी सारी बहस को गैरकानूनी बना देता है;

तीसरा, प्रधान दोष है जो अत्यंत निकृष्ट है और वह यह कि जिन चीजों को वह निश्चित रूप में दोष पूर्ण घोषित कर कर रहा है उनके बारे में वह अभी कुछ भी नहीं जानता;

क्योंकि इसका तो अर्थ हुआ एक भौतिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये तथ्य को जानबूझकर निरंतर विकृत करना और यह चीज संस्कृतियों की तुलना और समीक्षा के पक्षपातहीन बौद्धिक उद्देश्यों के लिये सर्वदा विजातीय है।

वास्तव में यह पुस्तक कोई समालोचना नहीं है; यह तो एक साहित्यिक या यूं कहें कि एक अखबारी घूँसेबाजी है। तिसपर भी यह अपने ढंग की अजीब है; यह तो भारत की सामान्य बाहरी मूर्ति पर क्रोधपूर्वक घूँसे जमाना है, मिथ्या वर्णन और अतिरंजन का लंबा और जोशीला नाच दिखाकर, अपनी मर्जी के मुताबिक उस पुतले को ठोकर मार कर पटक देना है इस आशा से कि अज्ञ दर्शकों को यह विश्वास हो जाय कि कौशल दिखानेवाले ने एक बलशाली प्रतिपक्षी को चित कर दिया है। इसमें सुविचार, न्याय और संयम को तो बट्टे खाते डाल दिया गया है: बस एक ही दृश्य दिखाने का उद्देश्य सामने रखा गया है और वह यह कि प्रहार-पर-प्रहार पड़ते हुए मालूम होने चाहिये और सो भी ऐसे जो दुर्घर्ष और थर्रा देनेवाले हों, और इस उद्देश्य के लिये कोई भी चीज उसकी दृष्टि में उपयोगी बन जाती है, तथ्यों का उल्लेख बिलकुल गलत रूप में किया गया है या फिर उनका एक भद्दा व्यंग्य-चित्र उपस्थित किया गया है, अत्यंत साधारण और निराधार संकेत ऐसी भाव-भंगीमा के साथ सामने रखे गये हैं मानों वे सर्वथा प्रत्यक्ष ही हों, जहाँ कहीं बाहरी रूप में बाजी मार ले जाने की संभावना थी वहाँ ही अत्यंत युक्ति-विरुद्ध असंगतियों को

ग्रहण कर लिया गया है।

एक रोमन कवि के कथनानुसार यथासमय और यथास्थान मूर्ख की तरह कार्य करना प्रिय और मधुर होता है। परंतु श्री आर्चर का च्युत होकर युक्ति विरुद्ध अति में जा गिरना किसी प्रकार और किसी प्रकार भी यथास्थान नहीं है। हमें बहुत शीघ्र पता चल जाता है कि उसके अनुचित उद्देश्य और स्वेच्छाकृत अन्याय के अतिरिक्त तीसरा प्रधान दोष है जो अत्यंत निकृष्ट है और वह यह कि जिन चीजों को वह निश्चित रूप में दोष पूर्ण घोषित कर कर रहा है उनके बारे में वह अभी कुछ भी नहीं जानता। उसने बस यही किया है कि भारत के विषय में उसने जो भी प्रतिकूल टिप्पणियाँ पढ़ रखी थीं उन सब को अपने मन में इकट्ठा करके उनमें कहीं-कहीं अपनी धारणाएँ जोड़कर उन्हें बढ़ा दिया है और इस हानिकारक एवं निसार मिश्रण को अपनी मौलिक कृति के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। यह पुस्तक अखबारी हौआ है, सच्ची समालोचनात्मक रचना नहीं। स्पष्ट ही, लेखक को दर्शनपर कुछ कहने का जरा भी अधिकार नहीं था वह तो इसे मानव मन का दुष्प्रयोग कहकर इसका जिक्र करता है और फिर भी भारतीय दर्शन के मूल्यों के विषय में विस्तारपूर्वक एक नियम-व्यवस्था का प्रतिपादन करता है।

यह स्पष्ट है कि प्रत्येक क्षेत्र में हमें उन्हीं लोगों की और मुड़ना होगा जिन्हें उसके संबंध में कहने का कुछ अधिकार हो। मेरे लिये इस बात का बहुत ही कम महत्त्व है कि मिस्टर आर्चर या डाक्टर गफ, या सर जान उड्रफ के अज्ञातनामा अंग्रेज प्रोफेसर भारतीय दर्शन के विषय में क्या कह सकते हैं; मेरे लिये यही जानना काफी है कि इमर्सन या शोपनहावर या नित्शे को - जो इस क्षेत्रमें तीन सर्वथा भिन्न प्रकार के मनीषी हैं और तीनों ही अत्यंत शक्तिशाली हैं, - अथवा कजिन और श्लीगल (Schlegel) जैसे विचारकों को इस विषय में क्या कहना है, या फिर मेरे लिये यह देखना ही काफी है कि भारतीय दर्शन की कुछ एक परिकल्पनाओं का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और प्राचीनतर यूरोपीय चिंतन में भी विचार की महान् समानांतर धाराएँ थीं और साथ ही अत्यंत अर्वाचीन अनुसंधान-अन्वेषण के परिणाम स्वरूप प्राचीन भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान के पोषक प्राप्त हो रहे हैं। स्थापत्य के लिये मै फर्गुसन (Ferguson) जैसे किसी माने हुए अधिकारी विद्वान का मत लूँगा; फिर चित्रकला और मूर्तिविद्या के लिये यदि मिस्टर हेवेल (Havell) जैसे आलोचकों को पक्षपाती मानकर त्याग देना हो, तो कम-से-कम मैं ओकाकुरा (Okakura) या मि. लारेन्स बिनयन (Laurence Binyon) से तो कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकता हूँ। साहित्य के संबंध में मैं थोड़ी दुविधा में पड़ जाऊँगा, क्योंकि मुझे स्मरण नहीं आता कि पश्चिम के किसी प्रतिभाशाली लेखक या समालोचक के रूप में सुविख्यात समालोचक को संस्कृत साहित्य या प्राकृत भाषाओं का किसी प्रकार का सीधा, मूललब्ध ज्ञान हो, और अनुवादकों के आधार पर किया गया निर्णय केवल मूलभाव का ही विवेचन कर सकता है, - और वह भी भारतीय कृतियों के अधिकतर अनुवादों में केवल निर्जीव भाव ही हैं जिसमें से जीवनी शक्ति पूर्ण रूप से विलुप्त हो गयी है। तथापि, यहाँ भी शाकुंतल पर गेटे की सुप्रसिद्ध रसमय लघु-कविता मात्र मुझे यह दिखाने के लिये काफी होगी कि समस्त भारतीय कृतियाँ यूरोपीय रचना की तुलना में बर्बरतापूर्ण

हीन कोटि की नहीं हैं और शायद जहाँ-तहाँ हमें कोई ऐसा विद्वान् भी मिल जाय जिसमें कुछ साहित्यिक रुचि और निर्णय-शक्ति दोनों हों, - यद्यपि इन दोनों का संयोग कोई अत्यंत साधारण वस्तु नहीं है, - और ऐसा व्यक्ति हमारे लिये सहायक होगा। भारतीय सभ्यता में दर्शन और धर्म -- धर्म द्वारा क्रियाशील बना हुआ दर्शन और दर्शन द्वारा आलोकित धर्म -- ही नेतृत्व करते आये हैं। भारतीय संस्कृति आरंभ से ही एक आध्यात्मिक एवं अंतर्मुख धार्मिक-दार्शनिक संस्कृति रही है और बराबर ऐसी ही चली आयी है। उसमें और जो कुछ भी है वह सब इस एक प्रधान और मौलिक विशेषता से ही उद्भूत हुआ है अथवा वह किसी-न-किसी प्रकार इस पर आश्रित या इसके अधीन ही रहा है; यहाँ तक कि बाह्य जीवन को भी आत्मा की आभ्यंतरिक दृष्टि के ही अधीन रखा गया है।

हमारे समालोचक ने इस केंद्रीय बात का महत्त्व समझा है और इसे अपने अत्यंत नृशंस आक्रमण का लक्ष्य बनाया है; अन्य क्षेत्रों में वह कुछ रियायतें कर सकता है, आक्रमणों को हलका कर सकता है, पर यहाँ वह ऐसी कोई चीज नहीं कर सकता। यहाँ तो प्रधान विचारों और उद्देश्यों के निज स्वरूप के ही कारण सब कुछ किसी सच्चे हित के लिये बुरा और हानिकारक है अथवा घातक नहीं तो बेकार अवश्य है। यह एक महत्त्वपूर्ण मनोवृत्ति है। इसमें संदेह नहीं कि इसके साथ एक विवादात्मक उद्देश्य भी विद्यमान है। भारतीय मन और इसकी सभ्यता के संबंध में हम जिस चीज का दावा करते हैं वह है एक उच्च आध्यात्मिकता, एक ऐसी आध्यात्मिकता जो चिंतन और धर्म के सभी शिखरों पर उच्चता को पहुँची हुई है, जो कला और साहित्य में तथा धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक विचारों में व्यापी हुई है और यहाँ तक कि साधारण मनुष्य के जीवन विषयक मनोभाव पर भी प्रभाव डालती है। यदि इस दावे को स्वीकार कर लिया जाये, जैसा कि इसे सभी सहानुभूतिपूर्ण और निष्पक्ष जिज्ञासु जीवनसंबंधी भारतीय दृष्टि को न मानते हुए भी स्वीकार करते हैं तब तो भारतीय संस्कृति की स्थिति और सुदृढ़ हो जाती है, भारतीय सभ्यता को जीने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

भारतीय धर्म अपना सारा विशिष्ट मूल्य-महत्त्व आध्यात्मिक दर्शन से ही प्राप्त करता है, जो उसकी परमोच्च अभीप्सा को आलोकित करता है और यहाँ तक कि धार्मिक अनुभव के निम्न स्तर से आहरण की हुई वस्तुओं में से भी बहुतों को अपने रंग में रंग देता है। परंतु मि.आर्चर के आक्षेप हैं क्या? उसका-

पहला आक्षेप केवल यह है कि यह अत्यधिक दार्शनिक है। उसका-

दूसरा आरोप यह है कि उस निकम्मी चीज, तत्त्वज्ञानात्मक दर्शन, के रूप में भी यह अतीव आध्यात्मिक है। उसका-

तीसरा दोषारोपण - जो अत्यंत निश्चयात्मक है तथा युक्ति- युक्त भी प्रतीत होता है- यह है कि निराशावाद, वैराग्यवाद, कर्म और पुनर्जन्म की मिथ्या धारणाओं के द्वारा यह व्यक्तित्व तथा संकल्पशक्ति को क्षीण और विनष्ट कर देता है।

इनमें से प्रत्येक श्रेणी के आक्षेप के अंतर्गत उसने जो आलोचना की है उसपर विचार करने से हमें ज्ञात होगा कि वास्तव में वह कोई निष्पक्ष बौद्धिक आलोचना नहीं है, बल्कि मानसिक घृणा और स्वभाव तथा दृष्टिकोण के आधारभूत भेद की एक अतिरंजित अभिव्यक्ति है।

मि. आर्चर भारत के संबंध में एक अन्य, सुक्ष्मतर और क्लिष्टतर क्षेत्र में इस प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने से बचना चाहते हैं। इसके लिये वे दर्शन की उपयोगिता से ही इंकार कर देते हैं; भारतीय मन की यह क्रिया-प्रवृत्ति उनके निकट अज्ञेय को जानने और अचिंत्य का चिंतन करने की एक अप्रतिम चेष्टामात्र है। पर यह सब क्यों? हाँ तो, बात यह है कि दर्शन एक ऐसे स्तर से संबंध रखता है जहाँ "मूल्यों की जाँच" करना संभव ही नहीं और ऐसे स्तर स्वयं विचार का भी या तो कुछ मूल्य नहीं हो सकता या फिर नहीं के बराबर ही मूल्य हो सकता है, क्योंकि यह केवल एक अनुमान ही होता है जिसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती ।

यहाँ हम दृष्टिकोणों के एक स्वभावगत विरोध पर आ पहुँचे हैं जो सच-मुच ही मनोरंजक है; इससे भी बढ़कर यहाँ हम मन की गठन तक में भेद पाते हैं। जिस रूप में यहाँ युक्ति प्रस्तुत की गयी है उस रूप में वह एक नास्तिक एवं अज्ञेयवाद की संदेह संकुल युक्ति है। यूरोप में सर्वोच्च मनीषियों ने दर्शन का अनुशीलन किया है और उससे महान एवं उदात्त बौद्धिक फल प्राप्त हुए हैं, पर वह अनुशीलन जीवन से बहुत कुछ पृथक ही रहा है, उच्च और भव्य वस्तु होने पर भी वह प्रभावहीन ही रहा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ भारत और चीन में दर्शन ने जीवन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा है, सभ्यता पर एक गुरुतर क्रियात्मक प्रभाव डाला है तथा यह प्रचलित विचार और कर्म की नस-नस में व्यापा हुआ है, वहाँ यूरोप में यह ऐसा महत्त्व प्राप्त करने में कभी सफल नहीं हुआ। जिन दिनों स्टोइक (Stoic) संप्रदाय और एपीक्यूरस (Epicurus) के मत का प्राधान्य था उन दिनों इसने कुछ प्रभुत्व अवश्य प्राप्त किया था पर तब भी केवल अत्यंत सुसंस्कृत व्यक्तियों के बीच ही; वर्तमान समय में भी उस प्रकार की एक अभिनव प्रवृत्ति हमें दृष्टिगोचर हो रही है। नित्शे का प्रभाव पड़ा है, उधर फ्रांस में भी कई फ्रेंच विचारकों ने, जेम्स और बर्गसों के दर्शनों ने कुछ अंश में जनता की रुचि को आकृष्ट किया है; किंतु एशिया के दर्शन की अमोघ शक्ति की तुलना में वह सब कोरे शून्य के समान है। औसत यूरोपवासी अपने मार्गदर्शक विचार दार्शनिक नहीं बल्कि प्रत्यक्षवादी एवं व्यावहारिक बुद्धि से ही आहरण करता है। वह मि. आर्चर की तरह दर्शन की नितांत अवहेलना तो नहीं करता, परंतु वह इसे एक "मनुष्यनिर्मित भ्रम" न सही, पर एक प्रकार की अपेक्षाकृत दूर की, धुंधली-सी और निष्प्रभाव प्रवृत्ति अवश्य समझता है।

(भारतीय संस्कृति के आधार – भारतीय संस्कृति पर एक युक्तिवादी आलोचक - अध्याय 1,2,3 से संकलित)

(क्रमशः)

सावित्री (पर्व 1 सर्ग ३)
राजा का योग : आत्मा की मुक्ति का योग

इस सर्ग में राजा अश्वपति को तपस्या और योगसाधना द्वारा जो अलौकिक सिद्धियाँ और अध्यात्म अवस्थाएँ प्राप्त हुई थीं उनका वर्णन आया है।

पृथ्वीलोक की प्रार्थना ने सावित्री को मर्त्य जन्म लेने के लिये विवश किया था। अपनी तपस्या के अंत में राजा अश्वपति को मिले हुए वरदान में सावित्री का अवतार हुआ था। राजा अश्वपति की आत्मा ऊर्ध्व के दिव्य धामों से उतरकर पृथ्वीलोक की अधिवासिनी बनी थी। अचित् अवस्था में से परमात्मचेतना की सिद्धि के प्रति जो उत्क्रांती चल रही है, उस प्रभु की लीला के कार्य में यह अग्रसर बनकर कार्य करता था। पृथ्वी की मूक आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिये यह सावित्री की प्रभावशाली शक्ति को यहाँ उतार लाया था। देखने में मानव होते हुए भी इसकी अर्ध पारदर्शक मानवता में से अंध जगत को मार्ग दर्शन करानेवाली सर्वज्ञ प्रभु की दिव्यता दिखायी देती थी। पृथ्वी के और मनुष्य के देनदार प्रभु का ऋण चुकाने के लिये अश्वपति के रूप में परमात्म पुत्र प्रकट हुआ था। काल के क्षणों में उलझे हुए आदि सनातनता के बल ने इसमें आविर्भाव पाया था। अज्ञेय में से आये हुए सामर्थ्य से वह सज्जित था। तथापि अपनी अनंतताओं के अपने दर्शन को इसने यहाँ अपने पृष्ठभाग में रख छोड़ा था।

अश्वपति का संपूर्ण जीवन परमात्मा के प्रति प्रगति करते रहनेवाले क्रम विकास का जीवंत कार्य था। इसकी आत्मा पृथ्वी के ऊपर सनातन की प्रतिनिधि थी। इसके पदस्पर्श से पृथ्वी प्राणधारी अनंतदेव की क्रीड़ाभूमि बन गयी थी। मर्त्यता में से अमृतत्व में, जीवभाव में से शिवभाव में इसकी आत्मचेतना की ऊर्ध्वगति हो रही थी। इसका देवी प्रभाव अपक्व और अपूर्ण पार्थिव स्वभाव को परमात्मीय परिपक्वता और पूर्णता की ओर प्रेरित करके ले जा रहा था।

महीतल पर मानव का जीवन एक मंदगति से चलती हुई तैयारी का जीवन है। श्रम, आशा, संघर्ष और शांति के चक्करों में से होते हुए, अक्षुण्ण शिखर पर हम आरोहण करते हैं, चढ़ने और उतरने के क्रमों में से होते हुए, आखिर में हम प्रभु की अनंतता में जा पहुंचते हैं।

संदेह उत्पन्न करनेवाला परदे के पीछे रहकर एक सान्निध्य शिल्पकार्य किया करता है और मिट्टी के मानव को प्रभु की प्रतिमा में पलट देता है। प्रथम आंतरिक प्रदेशों में यह शिल्पकार्य चलता रहता है, परंतु यह आगे बढ़ता जाता है और अंत में एक परमोच्च चमत्कार अचानक सिद्ध हो जाता है। पृथ्वी स्वर्गलोक के साथ संलग्न हो जाती है, दिव्य द्रष्टा, देदीप्यमान देव उदीयमान होते हैं। अपने क्षुद्र स्वरूप के सीमाचिह्न भूशायी हो जाते हैं, अहंभाव का द्वीप मूलखंड के साथ जुड़ जाता है, अविद्या और अज्ञान के जीव के साथ करार रद्द हो जाते हैं।

अब अश्वपति के सांत स्वरूप ने अनंत के साथ का सहयोग सिद्ध किया। अखंड सत्य ने इसमें अपना आलय पाया। इसकी चाल गरुड़ की उड़ान बन गयी। आत्मचेतना का यह त्वष्टा (दिव्यशिल्पी) बना। अकालता का यह अभीप्सु बना। ऊर्ध्व धामों में से मुक्ति और महाराज्य ने इसका आवाहन किया। मन की सन्ध्या और प्राण की तारोंभरी रात्रि के ऊपर अध्यात्म अहन् का प्रभाव प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार ज्यों-ज्यों यह महात्म्य में आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों मानवभाव ने इसके कर्मों को रूप देना कम कर दिया। एक महत्तर आत्मा ने महत्तर जगत् को देखा। मन के प्रदेशों की सीमाओं के पार यह हिम्मत से उड़ा। मनुष्य के अंदर सुलाकार रखी हुई शक्तियों को इसने गांडीव धनुष की भांति हाथ में लिया। नित्य की कार्यप्रणाली को इसने चमत्कार में पलट दिया। ब्रह्मात्मकता के उपहार इसके पास ढेर-के-ढेर आने लगे। मन-हृदय-प्राण-इंद्रिय और शरीर की सुक्ष्म सिद्धियाँ इसकी बन गयीं। भूतमात्र के साथ इसकी एकात्मकता में से इनके समग्र स्वरूपों का ज्ञान यह सहज में ही पा लेता। आंतरिक भुवनों ने अपने द्वार इसके लिये खोल दिये। अदृश्य दृश्य और अगोचर गोचर बन गया। सुने न जानेवाले स्वरों को यह सुनने लगा। अनास्वादित माधुर्य इसकी जिह्वा के अग्र भाग पर ठहर गये। संगीत के अलौकिक स्वर इसे आनंद देने लगे। सांत को अनंत के साथ संयुक्त करता हुआ सब कुछ इसके लिये स्वाभाविक बन गया।

देव और दानव आये - अपने-अपने सिद्धांतशास्त्रों के साथ। दोनों ही अपने को प्रभु का प्रवक्ता मानते थे। अब अश्वपति की आत्मा को अपनी बना देने का दावा आगे करके वे आपस में लड़ने लगे। अचिंतित आये हुए मित्र की भांति साहस राजा के सामने छलांग मारकर आया। जोखिम हर्ष का टंकार करने लगे। सौन्दर्य के प्रदेशों में से मधुर प्रलोभन चोर की तरह छुप-छुप कर आने लगे। महासुख के महालोकों में से समुदायें अचानक मिलने को आयीं। यह था आश्चर्यों का और आमोदों का राज्य।

ऐसा करते-करते जड़द्रव्य के नियमोपनियमों का उल्लंघन हो गया, विचारों की सरहदें पार हो गयीं, और राजा निरञ्जन, निराकार, अनामी अनंतता में आया। वहाँ जगत् था ही नहीं, एकात्मकता द्वारा सब कुछ ज्ञात हो जाता, आत्मा ही आत्मा का स्वयं प्रमाण थी, परमात्मा स्वयं मानव की आँखों से देखता। सर्व विचार वहाँ विज्ञात हो जाते। शब्दमात्र ही वहीं शाश्वत का शब्द था। एकता खोज की वस्तु नहीं स्वाभाविक थी। प्रेम 'एक' के लिये 'एक' की अभिलाषा थी। सौन्दर्य 'एक' ही 'एक' का मधुर भेद था। सभी सत्य जो एकमात्र सत्य है उसमें समा गये थे। वहाँ रहनेवाला विश्व से भी विशाल बन जाता। आत्मा अपनी अनंतता में रहती।

अश्वपति की आत्मा वहाँ निर्मुक्त बनकर खड़ी हुई। यह थी साक्षी और सम्राट। इसने अपने भूत और भविष्य को वर्तमान में धारण किया, पलों में अगणित वर्षों का अनुभव किया। अब इसे सारा असीम जड़ जगत् अपरिसीम शक्ति का एक छोटा-सा कार्य जैसा दिखायी दिया ।

शब्दातीत और विचारातीत इस अवस्था में केवल मौन हो था, केवल ब्रह्मस्वरूप ही था। राजा को अपने अस्तित्व का आदि कारण वहाँ मिला। अनंत में इसने गहरी जड़ जमायी, अपने जीवन को सनातन के आधार पर खड़ा रखा।

परंतु ऐसी दिव्यतर अवस्थाएँ अधिक समय तक टिकी नहीं रहतीं। हमारे स्वभाव को सुपरिचित निम्नावस्थाओं में फिर से उतरना पड़ता है। अवचेतन का आकर्षण कार्य करता है और स्वयं अनिच्छु होते हुए भी आत्मा उत्तुंग शिखर पर से नीचे के प्रदेश में उतर पड़ती है। परंतु प्रभु इस पतन का भी सदुपयोग कर लेता है और इसको उच्चतर आरोहण का साधन बना देता है। एक अरूप शक्ति और प्रकाशमय आत्मा पतन के पीछे-पीछे आती है और हमारे अंदर अंधकार की ओट में रहकर स्वभाव के निम्न अंशों का रूपांतर करके उनको उच्चतर वस्तु के लिये तैयार करती है। क्योंकि हमारे स्वभाव के छोटे बड़े सभी अंशों को ऊर्ध्व के दिव्य नियम का अनुसरण सीखना है, शरीर के अणु-अणु को अमरता की अर्चिष (ज्वाला) को धारण करने की कला का विकास करना सीखना है। यदि ऐसा न हो तो अकेली दिगम्बर आत्मा अपने आदि मूल में चली जायेगी और जगत् तथा जीवन जैसे हैं वैसे ही अर्थ उद्धार को प्राप्त अवस्था में पड़े रहेंगे।

अश्वपति की ऊर्ध्वतर चेतना परदे के पीछे निवृत्त हुई। प्रकृति को तैयार करना था। दिव्य शक्ति का आवाहन होता, चेतना विस्मृत शिखर पर फिर आरोहण करती और एक नयी समतुला स्थापित होती। ऐसा करते करते एक अध्यात्म अवस्था में स्थिरता आ गयी। शाश्वत-स्वरूप के साम्राज्य में सदैव रहना शक्य हुआ। वहाँ से राजा का मन रात्रि के और संध्या के अंक में ढले हुए बाल-प्रभु को देखने में समर्थ हुआ।

अश्वपति की आत्मा स्पंदविहीन बन गयी थी और इस अवस्था में से श्रम में लगे हुए संसार को अपने-आप सहायता मिलती रहती थी। जो दिव्य शिल्पकार्य चल रहा या उसके परिणाम रूप प्रभु प्रकृति में प्राप्त हुआ, प्रकृति प्रभु में पूर्णकाम बनी । अब यह एक ऐसी अवस्था में पहुँच गया था कि जहाँ से एकमात्र दृष्टि के साथ सत् असत् का विवेक हो जाता, देवों के खोटे हस्ताक्षरों के साथ आनेवालों पर अपने-आप ही अंकुश लग जाता, मायाविनी अपने मोहक छलवेश में पकड़ ली जाती, और विचार तथा जीवन के बाह्याभास के पीछे रहनेवाले तथ्य को परख लिया जाता। प्रेरणा के, अंतर्ज्ञान के और आविष्कारक दृष्टि के अद्भुत अनुभव अश्वपति को होने लगे, मन की चमत्कारी शक्तियों, गूढ़ रहस्यों, और अंतहीन स्वप्नों का अवर्णनीय अर्थ इसके सामने प्रकट हुआ।

एक सान्निध्य का इसे सर्वत्र दर्शन हुआ। एक अपार महिमा का आविर्भाव हुआ। एक घूमता हुआ वृहत जगत् यंत्र मिटकर प्रभु के वपु की जीवंत गति बन गया। अखिलानंदमय इसके हृदय में विराजमान हुआ था। इसके दिवस निश्चित लक्ष्य के यात्री बन गये थे। इसकी रात्रियाँ चिंतनमय आत्मा की सहचरी बन गयी थीं, वामन न इसमें विराट रूप लिया था। इसकी जययात्रा के लिये पृथ्वी एकदम छोटी बन गयी थी। जीवन प्रभु के पास पहुँचने का निश्चित साधन बना था। इसका शरीर तक भी सूक्ष्म से उत्थान पाकर स्वर्ग की हवा में लहरें लेता था।

इस प्रकार अश्वपति की आत्मा प्रकृति के बंधनों में से निर्मुक्त हुई। राजा के मन का और तन का प्राथमिक रूपांतर हुआ। ऊर्ध्व में से प्रभु का पारावार ज्ञान बाढ़ के रूप में नीचे आया। विश्व विषयक नया ज्ञान अंतर में विस्तृत हुआ। परम सत्य और परम ब्रम्ह के प्रति इसके नित्य के विचारों की दृष्टि मुड़ी हुई रहती। अंतर का प्रकाश इसके कार्यों का उत्स बन गया। समस्त ब्रह्मांड के साथ अश्वपति एकाकार बन गया। प्रकृति की प्रबल से प्रबल शक्तियाँ अचानक इसके हाथों की पकड़ में आ गयीं। विश्व के अज्ञात रक्षकों के साथ अब यह वार्तालाप करता। इन आँखों से दिखायी न दे ऐसे स्वरूपों को यह देखने लगा। प्रकृति में काम करनेवाले बल इसको प्रत्यक्ष हुए। काल के रहस्य इसकी समझ में आ गये।

इसके अंतर का मानव प्रभु के पगों के साथ पग भरने लगा। इसके भीतर जो भभकती ज्वाला भरी थी वह इसके बाह्य कर्मों से पहचानी नहीं जाती थी। यह तो अपने मन की एक एकांत अवस्था में रहता था। अर्थ देव जैसा यह मानवों के जीवन का शिल्पी था। एक आत्मा की ओजस्वी इच्छा ने सारी मानवजाति को ऊर्ध्व गति प्रदान की। विश्व के बल इसके बल के साथ शंखलित हो गये। एक सारे युग को परिवर्तित कर देनेवाली महाशक्ति इसने अपने अंदर प्रकट की थी। भावी के लिये इसने महोच्च स्वप्नों के सांचे बनाये थे। अपने महाकार्यों को काल का सामना करने के लिये कांसे के समान ढाला था। काल में होती हुई इसकी गति मनुष्यों की गति को कितनी ही दूर पीछे छोड़ देती थी। इसके जीवन के दिन थे ऐकांतिक और आदित्य जैसे देदीप्यमान।

मूल गुजराती लेखक - पूजलाल
हिन्दी अनुवादिका – सरला शर्मा

अनागत के पथ पर

छोटे नारायण शर्मा

(गतांक से आगे)

(पिछले अंक का अंतिम परिच्छेद –

जड़द्रव्य के योग का मतलब है जड़ता की इसी पातालपुरी में देव-चेतना का जागरण। चेतना का वहाँ उदय होना होगा। इसीलिये सूर्यदेव को वहाँ उतरना ही चाहिये। रूपान्तरण इसके बिना सिद्ध नहीं हो सकता और यह दुस्साहसिक तपस्या सबसे कठिन तपस्या है।)

श्रीमाँ अपने १५.७.१९६१ की वार्ता में कहती हैं कि साधु महात्मा हो जाना उतना मुश्किल नहीं है। अतिमानसी रूपांतर एक दूसरी बात है। पहले इस राह तो कोई नहीं गया। श्रीअरविन्द ने सबसे पहले इसे शुरू किया था और वे क्या कर रहे थे, यह बिना बताये उन्होंने शरीर छोड़ दिया। सच पूछो तो जिसमें कोई नहीं गया, उस घनघोर जंगल में प्रतिपल में राह बनाती हुई चल रही हूँ।

और यह काम कितना कठिन है इसकी जानकारी मुझे बूँद बूँद कर दी जा रही है जिससे कि मैं दब नहीं जाऊँ। यह एक ऐसी अवस्था में पहुँच गया है जहाँ सारी आध्यात्मिकता, आज तक पृथ्वी के प्रारम्भ से जो कुछ भी लोगों ने भिन्न-भिन्न जातियों ने सम्पन्न किया है, वह इसके सामने कुछ भी नहीं के बराबर लगता है। इसकी तुलना में वे बच्चों के खेल के समान लगते हैं।

यह कठिन से कठिन काम ही वह काम है जिसके सम्पन्न हो जाने से जड़-विसृष्टि में भगवान् का जो सपना है, वह आदिम स्वप्न साकार हो जायेगा। शरीर- कोषाणुओं के अंध गलियारे में योग-शक्ति लेकर उतरने का जो मतलब है, उसके साथ जो भयंकर कष्ट सहने की आवश्यकता लगी हुई है, उस अनिवार्य दुर्बह कष्ट को दिव्य प्रेम ही स्वीकार कर सकता है। सृष्टि का प्रारम्भ ही पुरुष यज्ञ से होता है। जो परात्पर प्रेम और प्रकाश है, जो सर्वोपरि सद्वस्तु है उन्होंने ही आत्मनिष्कृति की, अपना स्वाहाकार किया और ठीक अपने ही विपरीत भाव की पराकाष्ठा को पहुँच गये। परात्पर प्रेम ही अपनी सघन छाया में तिरोहित हो गया। यही छाया निश्चेतना है। यही है मृत्यु का सघन प्रदेश, जहाँ भगवान् भी आत्म निष्कृति के घोर अंधकार में निस्पन्द सोया हुआ है। इसी निस्पन्द निद्रा से जन्म लेता है जड़ विश्व। इस जड़ सृष्टि में पार्थिव चेतना के भीतर जो कुछ भी भगवान् की ओर ऊपर उठने का आग्रह है, वही है मनुष्य की अध्यात्म पिपासा और निष्ठा। अंधकार से भरी हुई जो छाया है उसी के सद्रूप ग्रहण करने की पिपासा है। यह ज्योतिर्मय रूप तभी सम्पन्न होगा जब यह जड़ आधार पुंजीभूत प्रकाश के ठोस तत्त्व में रूपांतरित हो जायेगा। इसीलिये दिव्य प्रेम को इस अरण्य में प्रवेश करना है, अंधकार में टटोलते हुए, सब प्रकार की यातनाओं को सहन करते हुए नीचे उतर जाना है और माताजी कहती हैं कि यह यातनाओं से भरी हुई नीचे उतरने की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका अंत ही दिखलायी नहीं पड़ता। परन्तु इसके बिना अमृतत्व एक भाव है, एक सपना है, परन्तु मूर्तिमान पार्थिव सत्य का सघन विग्रह नहीं। इसीलिये माँ कहती

हैं मोक्ष व मुक्ति एक शारीरिक सत्य है। यहाँ इसके मूर्तिमान होने का मतलब है सर्वोत्तम सिद्धि परमोच्च सद्वस्तु की सर्वोपरि महिमा की सर्वोत्तम स्वरूप विभूति यहीं सिद्ध हो सकती है। जो सत्य ऊपर है वह शरीर के धरातल पर और भी सघन है, रूपबद्ध है।

यहाँ जो अनुभूति माताजी को होती है उसका जिक्र करती हुई वे बोलती हैं, "यह एक अद्भुत बात है। इसका एक ठोस प्रभाव है; सम्पूर्ण कोषाणु-जीवन सघन और ठोस संकेंद्रण का पुंजीभूत स्वरूप हो गया है। जिसका एक ही स्पंद है। शरीर में बहुत सारे स्पंदनों की बजाय अकेला बस एक ही स्पंद रह गया है। मालूम पड़ता है शरीर के सभी कोषाणु एक पुञ्ज बन गये हैं।'

और वे कहती हैं, "यह एक इतना शक्तिशाली पुञ्ज था जो जड़तत्त्व से बहुत अधिक ठोस था। यह तो एक अत्यंत ही विशेष चीज है और इतनी सघन जड़तत्त्व से अधिक ठोस, अधिक सघन और इसमें इतनी शक्ति, इतना भार, इतनी सघनता, अविश्वसनीय!"

जड़तत्त्वों से बने शरीर में इस दिव्य चेतना का अवतरण कितनी अद्भुत घटना है और कितना इसका आश्चर्यमय प्रभाव हम देखते हैं। वज्रादपि कठोर और कुसुमादपि कोमलतत्त्व का यह पार्थिव रूपायण।

परन्तु माताजी को इस साधना को उपसंहार तक ले जाने के लिये मृत्यु के सारे हलाहल को पीना पड़ेगा। अपने १९ जुलाई, १९७२ के दिन की वार्ता में वे अपनी अनुभूति की चर्चा करती हुई कहती हैं, "यह इस बात को दिखलाने के लिये आती है कि तुम्हें मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिये मृत्यु की अनुभूति के रास्ते से पार जाने के लिये तैयार होना ही चाहिये। "

शरीर में जो उच्चतम स्पंद है उसका जिक्र करती हुई वे बोलती हैं, " इस वेग की तीव्रता इतनी अधिक है कि हम लोगों के लिये यह स्थायित्व सा लगता है और यह अमृतत्त्व की अवस्था है, शांति और स्थिरता का वैसा अविकार्य भाव है जो अकल्पनीय रूप से गतिशील उन तरंगों के बीच स्थिर है जो अपनी तेज गति के कारण ही स्थिर दीखती है। "

माताजी २७ मार्च १९६१ के दिन अपनी उस अनुभूति की चर्चा करती हैं जो विगत दिन उन्हें हुई, "कल इतने प्रबल रूप से मुझे अनुभव हुआ कि हमारी आजतक की जितनी रचनाएँ व अभ्यास हैं, वस्तुओं को देखने और उनके प्रति प्रतिक्रिया करने के ढंग ढाँचे हैं, वह सब ढहता चला जा रहा है। पूरे के पूरे तौर पर समाप्त होता जा रहा है। मुझे लगा कि मैं एक बिलकुल नयी वस्तु के भीतर लटक रही हूँ, झूल रही हूँ। यह चीज़ एक बिलकुल ही दूसरी चीज है। क्या है, मैं नहीं कह सकती और वस्तुतः यह अनुभव कि जो कुछ भी हमारा जीवन हम आज तक जीते रहे हैं, जो भी हमने जाना है, जो हमने आज तक किया है, वह सब एक पूरी की पूरी भ्रांति है। अत: तुम देख रहे हो.... मनुष्यों को आध्यात्मिक सिद्धि की अवस्था में ऐसा बोध हुआ है कि जड़ तंत्री जीवन, सांसारिक जीवन एक भ्रांति है, कुछ लोगों को यह दुःखपूर्ण भी लगता है, परन्तु मुझे यह इतने सौन्दर्य से भरा हुआ मालूम पड़ा इतना आश्चर्यजनक और आनंदमय कि यह हमारे जीवन

के सर्वाधिक उत्तम अनुभवों में से एक था। लेकिन यह वह अवस्था है जिसमें आध्यात्मिक वह सम्पूर्ण रचना जिसको लेकर हम लोग आज तक चलते रहे हैं, बिलकुल वैसी ही भ्रांति बन जाती है-और उसी तरह की भ्रान्ति नहीं, उससे कहीं अधिक गंभीर भ्रान्ति और मैं तो कोई बच्ची नहीं हूँ। मैं सचेतन रूप से आज साठ वर्षों से योग कर रही हूँ और यहाँ अब ऐसी स्थिति है। "

यहाँ हम उस सत्य को पृथ्वी तल पर पहले पहल निर्दिष्ट रूप से प्रत्यक्ष देख रहे हैं जिसकी चर्चा ईशावास्योपनिषद् के उस मंत्र में की गयी है जहाँ विद्या और अविद्या की चर्चा है। वहाँ कहा गया है कि जो अविद्या की उपासना में लगे हुए हैं वे अंधकार से भरी अंधता में प्रवेश कर जाते हैं; परन्तु उससे भी अधिक गहन अंधकार में वे चले जाते हैं। जो विद्या में अपने-आपको लगाकर छोड़ देते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततोभूय इव तमो ये विद्यायां रताः ॥

आज तक की आध्यात्मिकता का मान्य लक्ष्य रहा है कि हम नानात्व और विभाजन की इस भूमि से उठकर दूर वहां चले जाये जहां एकत्व बोध है, जो 'नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति' का देश है, भूमा की भूमि है। वहां जाते ही अविद्या पीछे छूट जाती है, हम उस पार चले जाते हैं। अविद्या के पार चले जाने का मतलब है, अज्ञान से निकल जाना, मृत्यु के उस पार चले जाना, ज्ञान की अवस्था को प्राप्त कर लेना। लेकिन उपनिषद् के इस मंत्र में जो आश्चर्य से भरी हुई बात अंकित है वह यह कि यह एक अंधकार में प्रवेश है जो उससे भी घना है जिससे अविद्या की यह भूमि लांछित है । ततो भूय इव ते तमो ये विद्यायां रताः। उससे भी बड़े अंधकार में वे चले जाते हैं जो विद्या में जाकर अपने-आपको लीन कर देते हैं। उनके लिये जड़त्व का बना यह देश पीछे छूट गया है; निर्वर्ण ज्योति के बृहत् प्रांगण में जाकर वे डुबा बैठे हैं उस संसार को, उस विराट् विश्व की अद्भुत वर्णच्छटा को जो अरूप का ही रूपायण है, जो निर्वर्ण का ही वर्णैश्वर्य है। 'निराकारमोंकार मूलं तुरीय' की उपासना में चिदाकाशमय दिगम्बर शिव की पूजा करते हुए व भूल बैठे हैं उस बहुशोभमाना उमा को जो उस परात्पर शिव की ही आत्मशक्ति हैं, उन्हीं की विभूति और प्रकाशित विश्व लीला हैं। महाशांति में जो हम भूल बैठे हैं, वह और कुछ नहीं उसी शान्तं शिवं अद्वैतं का लीलायन है, देवस्य काव्यं है, विश्वलीला का बृहत्साम है। इसीलिये यह उससे भी बड़ा अंधकार है। माताजी ने कहा है जड़वाद ही मृत्य है। लेकिन उस जड़ प्रदेश में अतिचेतना के साथ प्रवेश करने से ही वह अद्भुत सिद्धि मिलती है जिसका निर्देश उस मंत्र के परवर्ती मंत्र में किया गया है। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। वह जड़मृत्यु की भूमि नहीं जहाँ अतिचेतना के साथ श्रीमाँ गयी हैं। कोष के तल पर चलने वाली उनकी साधना का यह प्रथम चमत्कार पृथ्वी तल पर पहले-पहल देखा गया है। वे मृत्यु के गर्भ में अमृतत्त्व का दीप जलाती आगे बढ़ रही हैं। प्रत्येक कोष तब भगवान् की जागृति का वह दीप्ताक्षर है जो उनकी रहस्य नींद के गहन गर्भ में दीपित हो उठा

है। श्रीमाँ के शब्दों में मुक्ति तो बस शरीर की होती है (Salvation is Physical) और यह मुक्ति कुछ और नहीं, बस देवता के चमत्कार का उनके अमृतमय रहस्य का पार्थिव रूपायण है। पहाड़ एक दूसरे पहाड़ से अलग दिखलाई पड़ता है, समुद्र की तरंगे भी अलग-अलग लगती हैं, फिर भी पहाड़ पहाड़ के बीच विभाजन की जो कठोर सीमा है वह समुद्र की तरंगों के बीच नहीं है। हवा में यह विभाजन और भी कम हो गया है और सबसे सूक्ष्म जड़ता का वह सूक्ष्मतर आधार है जहाँ कोषों की निवास भूमि है। वहाँ यह विभाजन नहीं के बराबर है। माताजी के कोषों में जो साधना चल रही है, वह इसी भूमि की साधना है। जड़भूमि के इस पार्थिवतल पर आज आकाश काल की जो मर्यादायें विज्ञान के विविध यंत्रों के आगमन से टूट रही हैं उससे अधिक चमत्कारपूर्ण है यह योग का अमर्यादित असीम रहस्य। कौन कह सकता है कि बाहरी विश्व के एकायन का यह सतत विवर्धमान दृश्य उसी अंतरंग यात्रा का बाहरी प्रतिफलन नहीं है? हम उस युग के स्वर्ण द्वार पर खड़े हैं जिसे श्रीमाँ ने अपने हाथों से खोला है और जहाँ सभव है विद्या और अविद्या की युगपत् सहवेदना। जहाँ संभव है विश्व और विश्वातीत की युगपत् सहवेदना जहाँ संभव है विश्व और विश्वातीत का युगपत् रसभोग। यह अमृतत्त्व का पार्थिव रूपायण है।

यही वह चमत्कार है जो लक्षित है माताजी की उस वाणी में जिसमें वे पार्थिव शरीर की मुक्ति का संकेत देती हैं salvation is physical।

और इस अद्भुत रहस्य से भरे योग की साधना वहाँ चल रही है, जो जड़ विश्व का सूक्ष्मतम आधार है। यह रासायनिक प्रक्रिया विश्वमूल में चल रही है। एक जगह भी रस सिद्ध हो गया तो मूल में यह प्रतिष्ठित हो जायेगा। उस व्यक्ति की विजय विश्व विजय होगी। श्रीअरविन्द ने कहा है :

One man's perfection still can save the world.

एक व्यक्ति यदि पूर्ण हुआ तो भी जग रक्षित होगा।

शरीरतल पर चलने वाली साधना की इस अवस्था में जो अनुभूतियाँ श्रीमाँ को हो रहीं हैं, वे अद्भुत है। मन और बुद्धि की गतिविधियाँ उनको समझने के लिये सर्वाधिक दुर्गम रास्ते हैं। २१ मई १९५८ के दिन की वार्ता में वे कहती हैं कि अतिमानस तक जाने का सबसे कठिन रास्ता है बुद्धि का रास्ता उससे आसान है किसी किस्म का चैत्य भावावेग क्योंकि वह है जड़त्व में अतिमानस का प्रतिबिंब। ये फिर कहती हैं कि जब तक दोनों छोर मिलते नहीं सर्वाधिक जड़ में जब तक सर्वोच्च प्रकाशित नहीं हो जाता अनुभव भी परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसा लगता है व्यक्ति तब तक सच्चे रूप में समझ ही नहीं सकता जब तक कि चीज को शरीर नहीं समझ लेता।

मुक्ति तो शरीर की है-"Liberation is physical, "

२३ जुलाई १९६२ के दिन वे कहती हैं, "अधिकाधिक तौर पर यह योग सर्वसाधारण का योग बनता जा रहा है। इस तरह यह दिन-रात चल रहा है। जब में टहलती हूँ, जब मैं बात करती हूँ जब मैं खाती हूँ। जैसे आटे को गूँथा जाता है और साँचे में ढाला जाता है।"

और आटे जैसा गूँधा जाना एक अत्यंत ही कष्टकर प्रक्रिया है शरीर के लिए। श्रीमाँ को उसकी सच्ची अनुभूति लेनी ही होगी।

२८ सितम्बर, १९६३ की वार्ता में वे कहती हैं, "पीड़ा मेरे लिये असह्य हो रही है, लेकिन रास्ते का ठीक-ठाक पता पाने के लिये उपाय जानने के लिये यह अनिवार्य है। बौद्ध लोगों के प्रति मेरी यही शिकायत रही है; वे बचने के मार्ग ढूँढ़ते हैं। यह तो बहुत सुंदर बात नहीं। मैं बदलना चाहती हूँ।'

१८.२.१९६१ के दिन वे कहती हैं, "ऊपर से चीजों के ऊपर मैने तीस से अधिक सालों से प्रभाव डाला है; यह चीज़ों को बदलना नहीं है। रूपांतरण के लिये शरीर में जाना होगा और यह एक भयंकर काम है। "

शरीर के संबंध में माताजी को जो पूरी छूट पहले मिली हुई थी, अब शरीर योग के साथ वह भी छोड़कर उन्हें यह कष्ट सहना होगा। १९६५ फरवरी महीने की एक दिन वार्ता में वे कहती हैं, "शारीरिक कष्ट की अनुभूति मुझे होती ही न थी, लेकिन अब तो तुम विश्वास करो कि मुझे अपना शरीर छोड़ देने का अधिकार भी नहीं है। जब मुझे दुख-दर्द होता है और चीजें कठिन हो जाती हैं मैं कहती हूँ 'ओह, मैं अपनी आनंदभरी अवस्था में चली जाती, लेकिन इसकी अनुमति भी मुझे नहीं है। मुझे इससे बांध दिया गया है। यहाँ नीचे इसी जगह सिद्धि प्राप्त करनी होगी। "

परात्पर प्रेम के बारे में वे कहती हैं कि इसकी शक्ति अकल्पनीय है। "सभी भौतिक पदार्थों के साथ एकत्व बोध होने से यह शक्ति है, क्योंकि तब द्रव्य को भिन्न-भिन्न रूप से संघटित किया जा सकता है। छुट-पुट तौर पर नहीं व्यवस्थित रूप से द्रव्य का नियोजन जो हर चीज को अपनी-अपनी जगह बिठा देता है। तुम यह कर सकते हो क्योंकि तुम वही हो।" और चेतना के परिवर्तन से वस्तुएँ बदल जाती हैं। पत्थर पत्थर नहीं है; हमसे वह अलग नहीं है बस, संकेंद्रण की एक गति भर हैं, स्पंदों का एक ढंग मात्र है।

"अनुभूति जो इस शरीर में होती है, वह कई शरीरों में होती है-व्यक्ति को पता नहीं लेकिन कोषाणुओं को मालूम है। सिर्फ उनको वाणी नहीं दी गयी है जो बोल पावें। चेतना की बस मर्यादाएँ हैं। यह शरीर अधिक सचेतन है।"

शारीरिक अनुभूतियों की सार्वजनीनता का जिक्र वे बार-बार करती हैं। २८ जनवरी, १९७० के दिन वे कहती हैं, "शरीर में मृत्यु का अनुभव है, साथ ही यह भी कि वह मर नहीं रहा है। पीछे पता चलता है कि अमुक व्यक्ति उस समय मर रहा था।" १० अगस्त, १९६३ के दिन की वार्ता में वे कहती हैं, "अजीब सा लगता है; कल्पना करो कि तुम एक जंगल हो गये हो, नदी हो, पहाड़ हो, घर हो और यह सब तुम्हारा शरीर हो गया...। हाँ यह है शरीर का एकत्वबोध। अगर यह चेतना स्वाभाविक हो जाती है, स्वतः स्फूर्त बन जाती है और निरंतर बनी रहती है तो मृत्यु नहीं हो सकती।"

माताजी अन्यत्र कहती हैं, "मैंने देखा है पार्थिव जड़त्व के भीतर, पृथ्वी पर ही परात्पर अपने को परिपूर्ण कर पाता है। जिसे आध्यात्मिक लोग त्याग देते हैं, उसी पार्थिव जीवन में मैंने देखी वह यथार्थता, वह उपयुक्तता जो अणु-परमाणु तक बिलकुल निर्दिष्ट है-ठीक-ठाक है।" श्रीअरविन्द ने कभी एक दूसरे संदर्भ में कहा था कि चीजें बिलकुल निर्दिष्ट या तो नीचे जड़ में हैं अथवा बिलकुल ऊपर सर्वोच्च परात्पर में। बीच में जो प्रसारित खेल है, वह है संभावनाओं का खेल।

श्रीमाताजी की तपस्या का सिद्ध स्वरूप हम उस अनुपात में अनुसूचित देख सकें जिस अनुपात में उनकी यह ज्योतिर्मयी यात्रा, उनका दिव्य अभियान जड़ता की पातालपुरी में कोषाणुओं के लोक में आगे बढ़ता जाता था। जैसे-जैसे वे अतिमानसी योग की अग्निदीप्ति लिये वस्तुओं के अंधगर्भ में प्रविष्ट होती गयीं - Kindling her fire in the closed heart of things-वैसे-वैसे बढ़ती गयी उस सूर्योदय की सूचना जो पार्थिव भविष्य का दिव्य उद्घोष है।

श्रीमाँ-श्रीअरविन्द शरीरतः हमारे बीच नहीं हैं लेकिन अपनी तपस्या के द्वारा जो देवयान मार्ग हमारे सामने उन्होंने खोल रखा है उसका नेतृत्व वे नहीं तो और कौन कर सकता है?

(समाप्त)

24 अप्रैल : एक दिव्य दिवस

प्रो. कृष्णप्रसाद, पटना

मानव जीवन के ही नहीं बल्कि पृथ्वी के इतिहास में 15 अगस्त, 24 नवम्बर, 21 फरवरी और 24 अप्रैल क्या महत्व रखते हैं इस बात को, हो सकता है, आज हम पूरी तरह न समझ पावें, क्योंकि जिस सत्य और उस सत्य के जिन मानवीय प्रतीकों का संबंध इन तारीखों से है, वे हमारे इतने निकट हैं कि हम उनका मूल्यांकन अभी सचमुच कर ही नहीं सकते। परंतु इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि जिस प्रकार भगवान् राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि के साथ मानवीय विकास का इतिहास जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार वह दिन आयेगा जब सत्यान्वेषक श्रीअरविन्द और श्रीमाँ के व्यक्तित्व को न केवल मानवी बल्कि सारी पृथ्वी के जीवन और विकास के साथ पूर्णतया संयुक्त मानने लगेंगे। गंभीर, ठोस, प्रौढ़रूप से क्रांतिकारी सत्य को इस बौद्धिक युग में भी तुरंत देख पाना, समझ और परख लेना आसान काम नहीं, इसलिये जिस सत्य को श्रीअरविन्द और श्रीमाँ के अनुयायी एक प्रत्यक्ष ज्योति की भांति सजीव देख रहे हैं और अपने जीवन में उतारने की भी यथाशक्ति कोशिश कर रहे हैं, उसे यदि बाकी दुनिया अभी नहीं पहचान या देख रही है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। और यदि हम त्रुटि मान लें तो आज के बहुत से अच्छे पढ़े लिखे लोग, बहुत से साधु, संत, महात्मा, दार्शनिक भी इस त्रुटि से वंचित नहीं हैं। यही नहीं, जिसे हम कुछ थोड़े से लोग त्रुटि या अंधापन समझते हैं, उसे वे लोग मृगतृष्णा या पागलपन कहते हैं या कह सकते हैं और उनके यह दृष्टिकोणों और दुष्परिणामों से भरे पड़े हैं। फिर यह कैसे हो सकता है कि आज हम अचानक उस दिव्य अतिमानसिक ज्योति, उस सत्यमय, आनंदमय और प्रेममय जीवन के प्रति जिसकी दिव्य दृष्टि हमें श्रीअरविन्द और श्रीमाँ करा रही हैं, अपना दृष्टिकोण ठीक बना लें? और सत्यों की तरह इस सत्य को भी समझने के लिये हमें काफी बड़ी कीमत चुकानी होगी, अपनी कई बहुमूल्य वस्तुओं की आहुति देनी होगी और समय के साथ काफी संघर्ष भी करना होगा। परंतु तब, सबसे बड़ी चीज जो हमें उपलब्ध होगी वह हमारे इन परीक्षात्मक बलिदानों से कहीं बड़ी होगी। और यदि हमारा विश्वास है कि बाह्य जीवन की तरह विचार और दृष्टि, विचारक और द्रष्टा का भी विकास हुआ करता है और विकास का सीधा सादा अर्थ होता है कि जो चीज भविष्य में आने वाली है वह सदा भूत और वर्तमान से परिष्कृत और श्रेयस्कर होता है, तो अतिमानस का सत्य जो श्रीअरविन्द और श्रीमाँ के द्वारा आज के जगत् को प्राप्त हुआ है वह यदि व्यापक रूप में सच साबित हुआ-जैसा कि हम कुछ लोगों का विश्वास है तो इसमें संदेह नहीं कि दुनिया इस बात को मानेगी कि यह सत्य हमें बहुत आगे ले गया है और हमारे पूर्ण जीवन का विकास पहले से कई गुना बढ़ गया है यही नहीं, तब सारी पृथ्वी का रूप ही कुछ और होगा।

अप्रैल की 24 तारीख इसी उज्जवल भविष्य की साक्षी है क्योंकि यही वह दिन है जब श्रीमाँ की योगिक साधना इस पराकाष्ठा पर पहुँची कि वे अरविंद आश्रम में सदा के लिए बस गईं। उनका यहाँ आकर बस जाना एक बहुत बड़ा महत्व रखता है। इस महत्व को तो भविष्य ही पूर्ण रूप से स्पष्ट कर सकता है। परंतु आज भी हम इतना तो कम से कम समझ सकते हैं कि उनके आने से श्रीअरविन्द की साधना कितने वेग से आगे बढ़ने लगी और जीवन के भिन्न-भिन्न स्तरों पर सशक्त होकर काम करने लगीं। फिर, श्रीमाँ के आने के पहले, आश्रम की अपनी कोई व्यवस्था नहीं थी, उसका कोई अपना विशेष रूप नहीं था। आश्रमवासियों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती थी, यहाँ तक कि श्रीअरविन्द की दिव्य साधना को पूर्ण रूप से समझने वाला भी कोई नहीं था। श्रीमाँ के आगमन से आश्रम में जीवन, क्रम, व्यवस्था, एक प्रत्यक्ष रूप और व्यक्तित्व सभी कुछ आने लगा। यहाँ एक सजीव मूर्तिमान् चेतन-शक्ति प्रत्यक्ष रूप में काम करने लगी।

क्रमशः यहाँ के जीवन में गति आने लगी, साधकों और साधिकाओं की संख्या बढ़ने लगी और उनकी अनुभूतियाँ भी उच्चतर और गंभीर होने लगी। पांडिचेरी में एक नई दुनिया ही बस गई। और निःसंदेह रूप से योगेश्वर श्रीअरविन्द की दिव्य जीवन की अपूर्व कल्पना भी वाह्य जगत् में सजीव होने लगी। आश्रम में क्रमशः उस नवमानव की सृष्टि भी होने लगी जिसका विस्तृत वर्णन "आर्य" पत्रिका की विविध लेखमालाओं में श्रीअरविन्द कर गये थे। स्वयं "आर्य" पत्रिका के संचालन और संपादन में श्रीमाँ का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यही नहीं, श्रीअरविन्द को अपनी साधना में और भी सजीवता और परिपक्वता प्राप्त करने में उनसे बड़ी सहायता मिली। सन् 1926 के नवम्बर की 24 तारीख को आश्रम में रहने वाले साधकों और साधिकाओं का पूरा भार श्रीमाँ को सौंपकर श्रीअरविन्द एकांत अपने कमरे में रहने लगे और सत्य की उस ज्योति को जिसे उन्होंने "अतिमानस" नाम से संबोधित किया था पृथ्वी पर पूर्ण रूप से क्रमशः उतार लाने में संलग्न रहने लगे। पर इसका यह कदापि मतलब नहीं हुआ कि उन दोनों का कार्यक्षेत्र विभाजित हो गया और एक आश्रम को व्यवस्थित करने में ही लग गई और दूसरे किसी सूक्ष्य ज्योतिर्मय लोक में रहने या विचरने लगे। बल्कि.... मगर उस वाह्य श्रम-विभाजन की व्याख्या या समीक्षा कौन कर सकता है ? हमतो केवल श्रीअरविन्द के कुछ शब्दों को ही यहाँ दुहरा सकते हैं। 1945 में उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया कि "श्रीमाँ का जन्म अतिमानस को पृथ्वी पर उतारने के लिये हुआ है और चूँकि उनका जन्म यहाँ हो चुका है इससे यह संभव है कि पृथ्वी पर अतिमानस पूर्ण रूप से प्रदर्शित होगा" यहाँ पर यदि हम चाहें तो इतना जोड़ सकते हैं कि चूँकि श्रीमाँ ने अरविंद आश्रम को ही अपना कार्यक्षेत्र चुना इससे यह प्रत्यक्ष है कि अतिमानस की ज्योति इसी स्थान से सारे जगत् में क्रमशः फैलेगी और नवमानव का निर्माण भी इसी आश्रम में होगा।

एक दूसरे पत्र में उन्होंने बताया कि " श्रीमाँ की चेतना और मेरी चेतना भिन्न नहीं है। दोनों

वास्तव में एक ही चेतना हैं केवल लीला के लिये एक दिव्य चेतना को दो रूप लेने पड़े हैं। यहाँ बिना श्रीमाँ के ज्ञान और शक्ति के कोई कार्य हो ही नहीं सकता। यदि ठीक तौर पर किसी मनुष्य को उनकी चेतना की अनुभूति होती है, तो उसे यह भी जानना चाहिये कि मैं भी उस चेतना के पीछे हूँ और ठीक यही बात मेरी चेतना की सच्ची अनुभूति होने के फलस्वरूप होती है।" हम दोनों एक ही पथ पर सनातन काल से चले आ रहे हैं- उस पथ पर जो अतिमानसिक परिवर्तन और ईश्वरीय अनुभूति की ओर ले जाता है। हम लोगों का साथ आदिकाल से रहा है। जो लोग मेरे और श्रीमाँ के बीच विभाजन और विरोध लाना चाहते हैं वे सत्य के पथ से भ्रष्ट होकर अपने को आसुरी शक्तियों के हाथों में सुपुर्द कर रहे हैं।"

जब सत्य के पूर्ण रूप के पुजारी श्रीअरविन्द स्वयं श्रीमाँ के विषय में ये बातें कहते हैं तो हमें कोई अधिकार नहीं कि हम उनके विषय में छिछले प्रश्न किया करें कि वे कैसी महिला है, कहाँ से आई हैं, आश्रम में आने से पहले वे क्या करती थीं, वे विवाहित हैं या अविवाहित, उनका श्रीअरविन्द के साथ क्या संबंध है आदि? फिर भी इस तरह के पश्न स्वयं श्रीअरविन्द से ही बहुतों ने किये हैं और उनके उत्तर भी उन्होंने बड़ी गंभीरता, स्पष्टता, विश्वास और सहनशीलता से दिये हैं। और श्रीमाँ के व्यक्तित्व के हर पहलू पर प्रकाश डाला है। और तब भी यदि हम श्रीमाँ को संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं तो यह निः संदेह हमारा निजी दोष है। श्रीअरविन्द ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि श्रीमाँ विश्व माँ है, दिव्य शक्ति है और उनका जन्म ही अतिमानस को प्रत्यक्ष रुप से पृथ्वी पर उतार लाने के लिये और उसके लिये पृथ्वी पर उपयुक्त स्थितियों को उत्पन्न करने के लिये ही हुआ है। और जब 24 अप्रैल को श्रीमाँ अरविन्द आश्रम में आकर बस गई और 1926 की 24 अप्रैल को आश्रम का सारा भार भी ग्रहण कर लिया तो इसका स्पष्ट अर्थ केवल यही है कि उन्होंने मनुष्य के रुप में स्वयं पृथ्वी पर आकर, मानव जीवन की यातनाओं और सीमाओं को अपनाकर, इस वृहत्, अपूर्व, महानतम और कठिनतम कार्य को करने का दृढ़ संकल्प कर लिया और आश्रम में उनके निर्देशन में जो विविध कार्य संपन्न हो रहे है वे, सच पूछिये तो, इसी एक महान कार्य के क्रमशः विकासशील रुप हैं।

जब हम सच्चे हृदय से श्रीमाँ को इस दृष्टि से देखने लगेंगे तभी हम 21 फरवरी (जो उनका जन्मदिन है) और 24 अप्रैल के महत्व को ठीक समझ सकेंगे। परंतु जैसा मानव स्वभाव है ऐसी दृष्टि को अपने अंतर में विकसित करना या होने देना आसान नहीं है बल्कि एक काफी कठिन कार्य है।

यदि हम केवल श्रीमाँ का ध्यान प्रतिदिन कुछ क्षणों के लिये मन में या हृदय में किया करें तो

हमें शीघ्र ही अनुभूति होने लगेगी कि उनकी सूक्ष्म शक्ति बड़ी मधुरता तथा वेग से हमारे भीतर और बाहर दोनों जगह काम करने लगती है। हमें केवल अपने आपको उनकी शरण में रख देना है। उन्हें "माँ, माँ" संबोधित कर उनके चरणों में लोटपोट हो जाना है और अपना सब कुछ समर्पित कर देना है। फिर तो हमें जल्द ही दिखाई देने लगेगा कि उनका सच्चा स्वरुप क्या है। हम जितना अधिक और जितनी ईमानदारी से अपने हृदय में उन्हें स्मरण करेंगे, हम उतने ही वेग से और उतनी ही स्पष्टता से उनकी शक्ति से न केवल परिचित बल्कि ओतप्रोत होने लगेंगे और तब हमें स्वयं धीरे-धीरे ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि श्रीअरविन्द जो कुछ भी उनके विषय में कह गये हैं वह अक्षरशः सच हैं। यही नहीं, तभी हम स्वयं श्रीमाँ की उन अनुभूतियों से भी प्रभावित और प्रेरित हो सकेंगे जो उन्होंने अपनी पुस्तक "प्रार्थना और ध्यान" में अपूर्व शैली और ढंग से हमें दी है। हमें तभी श्रीमाँ के ज्ञान, प्रेम, शक्ति और आनंद का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त होगा और हम दिन पर दिन उनके निकट आते जायेंगे, उन्हें अच्छी तरह समझने लगेंगे।

यह तो निश्चित है कि बिना श्रीमाँ की कृपा, शक्ति और प्रेम को समझे हम श्रीअरविन्द के पूर्णयोग को न समझ सकेंगे और न उसका अभ्यास ही ठीक से कर सकेंगे । इस बात को भी श्रीअरविन्द ने स्पष्ट रुप से हमें बता दिया है। एक पत्र में वे कहते हैं कि "इस योग की केवल एक ही रीति है और वह यह कि हम अपने हृदय में विशेषकर ध्यान करें और श्रीमाँ की उपस्थिति और शक्ति को अपने अंतर में उतारने का प्रयत्न करें जिससे स्वयं माँ हमारी चेतना तथा हमारे जीवन को पूर्ण रूप से परिष्कृत और परिवर्तित करने लगें। यह उन्हीं की एकमात्र शक्ति है जिसकी सहायता से हमारा पूर्ण परिवर्तन हो सकता है-व्यष्टि तथा समष्टि दोनों जीवनों में। इस योग में दूसरा कोई और रास्ता नहीं।" अपनी पुस्तिका "माँ" में भी उन्होंने साफ कह दिया है कि अतिमानस किसी मनुष्य के अपने निजी तपोबल से नहीं अवतरित हो सकता है, उसे केवल मातृशक्ति और स्नेह ही यहाँ ला सकते हैं।

अतएव आज की इस पवित्र तिथि में हमारा बस एक ही कर्तव्य है। वह यह कि हम अपनी अभीप्सा की ज्वाला को और प्रज्जलित करें और श्रीमाँ के चरणकमलों में अपने को, अपने सारे जीवन को और पूर्णता तथा सच्चाई से समर्पित करें ताकि जिस कार्य के लिये हमारे अंधकारमय, अज्ञानमय और मिथ्यापूर्ण संसार में उनका अवतरण मनुष्य-रूप में हुआ है, वह शीघ्रातिशीघ्र संपन्न हो ।

आश्रम-गतिविधियाँ

10 मार्च 2024

श्री रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के सचिव स्वामी सर्वलोकानंद जी महाराज ने मेडिटेशन हॉल में 'स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द' पर रुचिपूर्ण व्याख्यान दिया।

वार्षिक पिकनिक,

10 मार्च 2024 को, आश्रम समुदाय, युवाओं और जो इतने युवा नहीं थे, ने एक मज़ेदार वार्षिक गतिविधि, पिकनिक में भाग लिया, जिसमें संगीत, नृत्य, कविता, कहानी, खेल और शानदार भोजन शामिल थे। पिकनिक वाटिका फार्म, गुरुग्राम, हरियाणा में आयोजित की गई थी।

21-22 मार्च

श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा से डॉ. अपर्णा रॉय को विज्ञान भवन, दिल्ली में आयुष्मान द्वारा आयोजित 2 दिवसीय 'राष्ट्रीय आयुष सम्मेलन' में इंटीग्रल हेल्थ पर बोलने के लिए आमंत्रित किया गया था।

20-25 मार्च - स्वर्गीय देवी करुणामयी का 94 वां जन्मदिन

ध्यान कक्ष में 6:45 से 7:30 बजे तक 5 दिवसीय संगीत का कार्यक्रम -स्वरांजलि आयोजित किया गया। विभिन्न कलाकारों ने करुणा दीदी को संगीतमय श्रद्धांजलि प्रस्तुत की।

29 मार्च - श्रीमाँ के पांडिचेरी में प्रथम आगमन की 110 वीं वर्षगांठ

समाधि उद्यान में 'लाइट ऑफ एस्पिरेशन', ध्यान-कक्ष में संगीतमय प्रस्तुति और तारा दीदी की reading का आयोजन हुआ।

4 अप्रैल - श्रीअरविन्द का पांडिचेरी में प्रथम शुभ आगमन

दिल्ली आश्रम के तपस्या भवन का 33 वां जन्मदिन

इस मंगलमय दिन की शुरुआत श्रीला दीदी के भावपूर्ण आवाहन के साथ हुई। दिन में चित्रकला प्रदर्शनी और श्री स्मृति प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। तपस्या ब्लॉक को फूलों, दीपों व रंगोली से सजाया गया। डॉ रमेश बिजलानी द्वारा लिखित पुस्तक 'We all are Writers' का विमोचन किया गया। ध्यान कक्ष में श्री कार्तिकेयन वशिष्ठ द्वारा बांसुरी वादन प्रस्तुत किया गया। तारा दीदी की reading से दिन का समापन हुआ ।

6-7 अप्रैल

तारा दी औरो वैल्ली में - श्रीअरविन्द सोसाइटी उत्तराखंड सम्मलेन के दौरान

13 अप्रैल

बैसाखी के अवसर पर ध्यान कक्ष में गुरबानी का कार्यक्रम

24 अप्रैल - श्रीमाँ के पांडिचेरी में स्थाई आगमन की 104 वीं वर्षगांठ

27-28 अप्रैल - Orientation on Integral Yoga

डॉ रमेश बिजलानी की देख-रेख में आयोजित

साप्ताहिक गतिविधियाँ

(SAAM पुस्तकालय के नजदीक कमरा 005 में)

मंगलवार – डॉ अपर्णा रॉय द्वारा 'आंतरिक रूप से जीना'
(Living Within का हिन्दी रूपान्तरण) संध्या 5.30 से 6.30

- श्री प्रशांत खन्ना द्वारा 'वेदान्त पर' प्रातः 11:30 से 12:30

वृहस्पतिवार – श्री प्रशांत खन्ना द्वारा 'सावित्री' पर प्रातः 11.30 से 12.30

शुक्रवार – श्री प्रशांत खन्ना द्वारा 'गीता' पर प्रातः 11.30 से 12.30

ध्यान कक्ष में संध्या 7 से 7.30 –

शुक्रवार - डॉ रमेश बिजलानी की वार्ता

शनिवार - डॉ अपर्णा रॉय की वार्ता

रविवारीय वार्ताएँ – ध्यान कक्ष में – प्रातः 10 से 11.30

3 मार्च

डॉ अपर्णा रॉय - सदा तुम्हारे पास हूँ

भजन – सुश्री ईशानी दत्ता

10 मार्च

श्री रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी सर्वलोकानंद जी महाराज द्वारा संभाषण

भजन – डॉ मिठू पाल

17 मार्च

डॉ मंकुल गोयल -शरीर की अधीनता से मुक्ति ((Based on Sri Aurobindo's The Synthesis of Yoga; Part 2, Chapter 7)

भजन – डॉ मैत्रेयी कर्क

24 मार्च

डॉ मिठू पाल -The Importance of Unlearning (Based on the Mother's prayer dated 3 April 1914 in Prayers and Meditations)

भजन – डॉ मिठू पाल

31 मार्च

डॉ रमेश बिजलानी – Stay Temporal, Outcome Eternal

भजन – सुश्री बसुंधरा मुंशी

7 अप्रैल

डॉ रमेश बिजलानी - Persistence is not always wise; it may be otherwise.

भजन - डॉ मिठू पाल (Recorded)

14 अप्रैल

डॉ अपर्णा रॉय - प्रभु को समर्पित कार्य शरीर की प्रार्थना समान है

भजन – आदित्य और ऋचा

21 अप्रैल

डॉ मंकुल गोयल – The Release from the Ego (Based on Sri Aurobindo's The Synthesis of Yoga; Part 2, Chapter 9)

भजन – सुश्री मोनिदीपा घोष

28 अप्रैल

डॉ रमेश बिजलानी - Integral Wellness

भजन – सुश्री बसुंधरा मुंशी